सत्यसमाज-ग्रंथमालाका प्रथम

धर्म-मीमांसा

(प्रथम भाग)



लेखक—

साहित्य-रत्न पं० दरबारीलाल, न्यायतीर्थ

प्रकाशक—

सत्यसमाज-ग्रंथमाला कार्यालय

श्रावण, १९९२

अगस्त, १९३५

मूल्य ४ आने

प्रकाशक—

साहित्यरत्न पं० दरबारीलाल न्यायतीर्थ,

सत्य-समाज ग्रन्थमाला, जुबिलीबाग,

तारदेव, बम्बई



मुद्रक—

रघुनाथ दिपाजी देसाई,

न्यू भारत प्रिन्टींग प्रेस,

६, केळेवाडी, गिरगाँव, बम्बई

प्रस्तावना



यह पुस्तिका एक पुस्तककी भूमिका मात्र है। अधूरी भी है और पूरी भी। अधूरी इसलिये कि धर्म-मीमासा नामक पुस्तकका यह एक भाग है और पूरी इसलिये कि धर्म-मीमासाकी कसौटीका इसने पूरा वर्णन किया है और उसे जीवनमे उतारनेके लिये जिस 'सत्य-समाज' की सृष्टि हुई है उसका दर्शन यह पूरा-सा ही करा देती है। यों तो पूर्णता भी एक सापेक्ष शब्द है, इसलिये एकके लिये जो पूर्ण है दूसरेके लिए अपूर्ण है। 'पूर्ण-पूर्णता' यह प्रयोग भाषाकी दृष्टिसे ही अटपटा-सा है और भावकी दृष्टिसे तो असभवमे प्रविष्ट हो गया है। खैर। यहाँ मैने इसलिए इसे पूरा कहा है कि इसके पढ़ लेनेपर पाठकोको अधूरेपनका कष्ट न होगा।

मैने 'जैन-जगत्' पत्रमे—जो कि अब 'सत्य-सदेश' हो गया है—'जैन धर्मका मर्म' शीर्षक एक लेखमाला करीब साढ़े तीन वर्ष तक लिखी थी। मैं लिखने बैठा 'मर्म' और लिख गया 'मीमासा'। शब्द डाला 'जैन-धर्म' पर रह गया 'धर्म'। उसमे किसीकी निन्दा नहीं थी, फिर भी तहलका मच गया। जैनधर्मका मर्म होनेपर भी वह जैनियोकी ही चीज़ न रही। उसमे न निंदा थी न स्तुति, निष्पक्ष आलोचना थी। सम-भाव और विवेकका यथाशक्ति पूरा उपयोग किया गया था। लेखमाला लिखते लिखते यह बात भी स्पष्ट हो गई कि इस प्रकारकी आलोचना तो प्रत्येक धर्मकी की जा सकती है, और उसके होनेपर तो धर्मोंमे कोई भेद नहीं रह जायगा। मनुष्य-जातिमे धर्म और जातिके जो भेद हैं उनमे निरर्थकता और दुरर्थकताका अश बहुत ज़्याद: हो गया है। इन सब विचारोका फल हुआ 'सत्य-समाज' की स्थापना।

एक दिन बैठा। नियमावली गढ डाली। स्थापना हो गई। निन्दाकी गर्जना और प्रशंसाके गीत सुनाई पड़ने लगे। उपेक्षा और व्यङ्ग्यकी मार भी पड़ी। मैंने सिर्फ शकाओका समाधान किया और बाकीके लिये किया भविष्यकी तरफ

इशारा। बहुतोंको यह योजना रुचिकर मालूम हुई। सदस्य बनने लगे। पूना, बार्शी (सोलापुर), कोटा, बारा (कोटा), भेलसा, बलुंदा, (मारवाड़) एटा, कानपुर, जालना (निजाम), आदि स्थानोंपर ग्राम-शाखाएँ खुलीं। कहीं प्रकीर्णक सदस्य रहे। शाखाएँ और भी खुलती जाती हैं। इसप्रकार यह योजना धीरे धीरे आगे बढ़ रही है।

इस प्रयत्नमें एक माँग चारों तरफसे आई कि 'सत्य-समाज'को समझनेके लिए उसकी नियमावली ही पर्याप्त नहीं है, कुछ और चाहिये। इस 'कुछ और' के लिए यह पुस्तक दी जा रही है। परन्तु यह 'सत्य-समाज'की नियमावली या उसका भाष्य ही नहीं है, प्रारम्भका आधेसे अधिक भाग धर्म-तत्त्वकी मीमासा है। मैं यह नहीं चाहता कि धर्म परलोक और ईश्वरके नामपर ही जीवित रहे, उसके लिए अनिर्वचनीय अज्ञेय तत्त्वोंकी और श्रद्धाकी दुहाई दी जाती रहे। जिस प्रकार प्राणियोंके लिए हवा-पानी आवश्यक है, उसीप्रकार धर्म भी आवश्यक है। अथवा इसे यों कहना चाहिये कि जो हवा-पानीकी तरह हमे आवश्यक है, वही धर्म है। धर्मके नामपर जो सम्प्रदाय चल रहे हैं उन्हे हम उतने ही अंशमे धर्म कह सकते हैं जितना कि उनमें यह तत्त्व पाया जाता है।

जब धर्म, हवा पानीकी तरह आवश्यक है तब वह बुद्धिका विषय भी है। बुद्धिके बाहर अगर कोई तत्त्व है तो रहे, परन्तु हम उसकी दुहाई नहीं दे सकते। दुहाई देते हैं तो उसे बुद्धिके भीतर कर लेते हैं। वह बाहर हो या भीतर, परन्तु हमें उसके नामपर निश्चेष्ट नहीं होना होगा। जब हमारे सामने विविध दुःख हैं, उनका हमे उपाय करना है, केवल 'मा मा' कहकर नहीं उड़ाना है, तब हमें उसका बुद्धि-सगत उपाय ही ढूँढना होगा।

आध्यात्मिकता आवश्यक है। उसके विना आधिभौतिक व्याख्या निष्प्राण है। परन्तु आधिभौतिकताके विना तो आध्यात्मिकता भी 'ऐसा ही कुछ' है। दोनोका समन्वय ही जीवन है। धर्म-जीवनकी यहाँ ऐसी ही व्याख्या की गई है।

इसके दूसरे तीसरे आदि भाग भी होंगे। जिनमें कर्म-भोग या जीवन-कला, मनुष्यमात्रकी एकता, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, बाह्याचार, सामाजिक विषय, समाज-सुधार, सर्व-धर्म-समन्वय, आदि विषयोपर व्यापक, गभीर और कुछ मौलिक-सा विवेचन किया जायगा।

ग्रन्थ-मालाका यह पहला पुष्प है, जो कि बहुत देरीसे दे रहा हूँ। फिर भी जल्दी है और इस जल्दीका श्रेय निम्नलिखित दो उदार श्रीमानोको है जिनकी सहायतासे यह प्रकाशन-कार्य प्रारम्भ हुआ है।

२५०) श्रीमान् सेठ सुगन्धचदजी लुणावत, धामनगाँव (बरार)

२५०) श्रीमान् सेठ राजमलजी ललवानी, जामनेर (खानदेश)

उपर्युक्त महानुभावोने यह सहायता 'जैन-धर्म-मीमासा' का प्रथम भाग छपनेको दी थी। सो वह छप रहा है। उसके प्रारम्भके सामान्य धर्मसम्बन्धी ४९ पृष्ठ इस पुस्तकमें हैं। थोडासा भाग और मिलाकर यह पुस्तिका तैयार हो गई है।

इस पुस्तकके प्रूफ-सशोधन आदि प्रकाशन-कार्यमे श्रीमान् पं० नाथूरामजी प्रेमीसे पूरी सहायता मिली है। वे मेरे इतने आत्मीय हैं कि उन्हे धन्यवाद देकर मै अनात्मीयता प्रकट नहीं कर सकता।

—दरबारीलाल

अनुरोध



क्या आप समझते हैं कि मनुष्य-जाति धर्म, जाति, देश, प्रदेश आदिके नामपर लड़ती रहे तो उसका कल्याण हो जायगा? यदि नहीं, तो आप इन बन्धनोको तोड़नेके लिए इस द्वन्द्वको शान्त करनेके लिए सत्य-समाजके सदस्य क्यो नहीं हो जाते?

आपकी विशेषता कोई नहीं छीनता। आप हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, जैन, बौद्ध आदि कोई भी रहिये और बने रहिये, परन्तु यह ख्याल रखिये कि इन विशेषताओंके भीतर भी एक समानता है जिसके आधारपर हमारा मनुष्यत्व टिका हुआ है। उस समानताको—ब्रह्मको—हम भूले हैं, क्या आप उसे याद करना चाहते हैं? उसे जीवनमे उतारना चाहते हैं? उसे मूर्तिमान करना चाहते हैं? तो सत्य-समाजके सदस्य क्यो नहीं बन जाते?

जातिके नामपर फैली हुई ये हजारों टुकड़ियाँ—जिनने खान-पान और विवाह-सम्बन्धी न्याय्य स्वतन्त्रताको छीनकर मनुष्यताका गला घोटा है—ये पंचायतें—जो कि समाज-सुधारके प्रत्येक कार्यमे आड़े आती हैं और पतनके मार्गमे धक्का देकर आगे बढ़ाती हैं, यह वातावरण जो कि श्वासके रूपमे भीतर जाकर आपके सत्साहसको नपुसक बनाये रहता है और आपको असहायताके दुःस्वप्न दिखलाता रहता है, इन सबका क्या आप सामना करना चाहते हैं? क्या इनपर विजय प्राप्त करना चाहते हैं, तो आप इस कार्यमे दूसरोंके सहयोगी बनिये। हजारो सहयोगियो ढूँढिये। इसके लिए सत्य-समाजके सदस्य बन जाना सबसे सरल मार्ग है। इस पुस्तकको पढिये, विचारिये, पूछिये, फिर सन्तुष्ट होकर उत्साहके साथ मैदानमें आइये।

—दरबारीलाल

सत्य-समाजका प्रवेश-पत्र

ता०

सेवामे—

संस्थापक "सत्यसमाज"

महोदय,

मैने सत्य-समाजके उद्देश नियम आदि पढ़ लिये है। मेरे ख्यालमें सर्व-धर्म-समभाव, सर्व-जाति-समभाव और पूर्ण समाज-सुधारकता, मनुष्यकी उन्नति और शान्तिके लिये अत्यावश्यक है। सर्व-धर्म-सम-भावके प्रदर्शनमे भाग लेना, जाति-पाँतिके नामपर फैली हुई संकुचित-ताका विरोध करना, समाज-सुधारके प्रत्येक कार्य—अन्तर्जातीय विवाह, सहभोज, विधवा-विवाह आदि—मे सहयोग करना, रूढियों शास्त्रकी दुहाई देकर किसी कार्यका विरोध न करना, दूसरोकी सामाजिक स्वतन्त्रतामे बाधा न डालना, आदि सब शर्तें मुझे मंजूर है। इनके लिये आप मुझे प्रतिज्ञाबद्ध समझिये और मेरा नाम सदस्यों की श्रेणीमे लिखिये।

हस्ताक्षर ——————— उम्र ———

पिता या पतिका नाम ———————

आजीविका ——————— विवाहित आदि ———

वर्तमान जाति ——————— वर्तमान सम्प्रदाय[1] ———

कुटुम्बियोका परिचय ———————

———————————————

सदस्यताकी शाखा ———————

पूरा पता ———————

———————————————

१ नैष्ठिक या पाक्षिकमें वैदिक, मुसलमान, ईसाई, जैन, बौद्ध, पारसी आदि।

अनुमोदन पत्र

सेवामें—

संस्थापक " सत्यसमाज "

महोदय,

मैने सत्यसमाजके उद्देश और नियम पढ़ लिये है। इस प्रकारके सम्प्रदायातीत निष्पक्ष समाजकी आवश्यकता है। सदस्यताकी जो आपकी शर्तें है वे मुझे मंजूर हैं। परन्तु उन्हें कार्यरूपमें परिणत करनेमें मेरे सामने कुछ कठिनाइयाँ है, इसलिये मैं अभी सदस्य तो नही बन सकता किन्तु अनुमोदक श्रेणीमें आप मेरा नाम लिख लीजिये। सत्य-समाजके कार्योंमे यथाशक्ति भाग लेनेकी और सहायता देनेकी मै कोशिश करता रहूँगा।

पूरा पता ______________________

सत्यं शिवं सुन्दरम्

धर्म-मीमांसा

प्रथम अध्याय

धर्मका स्वरूप

विविधताका रहस्य

धर्म क्या है ? धर्म-संस्था जगतमे क्यो आई ? धर्मोमे परस्पर भिन्नता क्यो है ? इत्यादि अनेक प्रश्न प्रत्येक विचारशील हृदयमे उठा करते है। और जब वह यह देखता है कि धर्मसरीखी पवित्र वस्तुके नामपर खूनकी नदियाँ बही है, मनुष्यकी और मनुष्यताकी दिन-दहाड़े हत्या हुई है, तब उसका हृदय संतापसे जलने लगता है और कभी कभी उसे धर्मसे घृणा हो जाती है। परन्तु हम धर्मसे घृणा करे, इसीसे धर्म नष्ट न हो जायगा। अगर हम अपने समयकी धर्म-संस्थाओको नाश करनेका प्रयत्न करे, तो हमारा यह प्रयत्न करीब करीब असफल ही होगा। धर्म किसी न किसी रूपमे जीवित ही रहेगा। मनुष्यके पास जब तक हृदय है और उसमें

अच्छी और बुरी वृत्तियाँ है तब तक उसे धर्मकी आवश्यकता रहेगी। इसलिये हमारा काम यही होना चाहिये कि धर्मका संशोधन करे। इसके लिये हमे धर्मका मूलस्वरूप ढूंढकर, जगत्मे धर्म क्यो पैदा होते है इस बातको समझकर, सब धर्मोका समन्वय करते हुए धर्मकी मीमांसा करनी चाहिये।

प्रत्येक धर्म इसी बातकी दुहाई देता है कि मै सबको दुःखोसे छुड़ाऊँगा। इससे माळूम होता है कि "दुःखोको दूर करनेका जो मार्ग है उसे ही धर्म कहते है"। "यह तत्त्व जिसमे जितना अधिक पाया जायगा वह धर्म उतना ही अच्छा होगा"। परन्तु इस तत्त्वका कोई ऐसा एक रूप नही है जो सब समय और सब जगहके सब व्यक्तियोंके लिये कल्याणकारी कहा जा सके। इसलिये कोई भी धर्म सार्वत्रिक और सार्वकालिक दृष्टिसे उपयुक्त नही हो सकता। अगर उसको उपयुक्त बनाये रखना है, तो समय समयपर उसकी मीमासा करते हुए उसमे ऐसा परिवर्तन करते रहना चाहिये जिससे धर्म-सस्थाका मूल उद्देश्य सिद्ध हो।

अगर हम प्रत्येक धर्मकी, उदारता और विनयके साथ मीमासा करे और उसमे समयानुसार परिवर्तन कर ले, तो हमे आश्चर्यपूर्वक स्वीकार करना पड़ेगा कि दुनियाके सभी धर्म एक दूसरेसे बिलकुल मिले हुए है। इतना ही नही बल्कि जिन्हे हम भिन्न भिन्न धर्म समझते है, वे एक ही धर्मके जुदे जुदे पहलू है। धर्मके भीतर जो अविश्वसनीय तत्त्व आ गये है वे भोले लोगोको समझानेके लिये रक्खे गये है, धर्मके मर्मका उनके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। उन बातोमे परिवर्तन करनेसे धर्मकी कुछ भी क्षति नहीं होगी।

जिस प्रकार वर्षाका शुद्ध जल दो तरहका नही होता, किन्तु पात्रोके भेदसे उसमे भेद हो जाता है, उसीप्रकार धर्म दो तरहका नही होता; किन्तु पात्रोके भेदसे या, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावके भेदसे उसमे भेद होता है। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावका भेद, विरोधका कारण नही होता; इतना ही नही बल्कि इस प्रकारकी द्विविधताको हम दो धर्म भी नही कह सकते। वे एक ही धर्मके अनेक रूप है। दुनियामे अनेक धर्म है वैदिक,—जैन, बौद्ध, ईसाई, इस्लाम आदि। परन्तु जिस प्रकार इन धर्मोके सम्प्रदाय है, उस प्रकार अहिंसाधर्म, सत्यधर्म, अक्रोधधर्म, विनयधर्म आदिके सम्प्रदाय नही है। मै जैन हूॅ, तू बौद्ध है, इस प्रकारके धर्माभिमानसे लोग लडे है; परन्तु मै अहिंसाधर्मी हूॅ, तू सत्यधर्मी है, इस प्रकारके धर्माभिमानसे कोई नही लडा। हर एक धर्म अपनेको न्यूनाधिक रूपमे अहिसा, सत्य आदिका पोषक कहता है। इससे मालूम होता है कि अहिंसा, सत्य आदि असली धर्म है और इनमे विरोध नही है। विरोध है उसके विविध रूपोमे अर्थात् सम्प्रदायोमे। कहनेका तात्पर्य यह है कि धर्म सुखके लिए है और विविध सम्प्रदाय धर्मके लिए है। सम्प्रदाय स्वय परिपूर्ण धर्म नही है—वे अहिसा आदि धर्मोके लिए है। हमने धर्मके लिए उत्पन्न होनेवाले या उसके एक रूपको बतलानेवाले सम्प्रदायोको धर्म कहा, इसलिए धर्मोकी विविधताकी समस्या हमारे सामने खडी होती है।

जुदे जुदे धर्मोमे जो हमे परस्पर विरोध मालूम होता है वह अनेकान्त, स्याद्वाद या सम-भावके न प्राप्त करनेका फल है। मै यह नही कहता कि प्रत्येक धर्मका प्रत्येक सिद्धान्त वैज्ञानिक

दृष्टिसे सत्य है। मनुष्य-प्रकृतिका विचार करके हरएक धर्ममे वैज्ञानिक असत्यको स्थान मिला है। परन्तु वह असत्य भी धर्मके लिए ही लाया गया है, अधर्मके लिए नही। इस बातको स्पष्ट करनेके लिए एक उदाहरणमाला उपस्थित करनेकी आवश्यकता होगी।

पहिले ईश्वरकर्तृत्वके विषयको लीजिए।

एक सम्प्रदाय कहता है कि जगत्कर्ता ईश्वर है; दूसरा कहता है कि जगत्कर्ता ईश्वर नही है। निःसन्देह इन दोनोमेसे कोई एक असत्य है। परन्तु इन दोनो वादोका लक्ष्य क्या है? ईश्वर-कर्तृत्व-वादी कहता है कि अगर तुम पाप करोगे तो ईश्वर तुम्हे दण्ड देगा, नरकमे भेजेगा; अगर तुम पुण्य करोगे तो वह खुश होगा, तुम्हे सुख देगा, स्वर्गमें भेजेगा। ईश्वर-कर्तृत्वविरोधी जैन कहेगा कि अगर तुम पाप करोगे तो अशुभ कर्मोका बन्ध होगा; खाये हुए अपथ्य भोजनके समान उसका तुम्हे दुःखमय फल मिलेगा, तुम्हे बुरी गतिमे जाना पडेगा। अगर तुम पुण्य करोगे तो तुम्हे शुभ कर्मोका बन्ध होगा, खाये हुए पथ्य भोजनके समान उससे तुम्हारा हित होगा, आदि। एक धर्म लोगोको ईश्वर-कर्तृत्ववादी बनाकर जो काम कराना चाहता है, दूसरा धर्म लोगोको ईश्वर-कर्तृत्वका विरोधी बनाकर वही काम कराना चाहता है। यहॉ धर्ममे क्या भिन्नता है? भिन्नता उसके साधनोमे है। परन्तु भिन्नता होनेसे विरोध होना चाहिये, यह नही कहा जा सकता। विरोध वहॉ होता है जहॉ दोनोका उद्देश्य एक दूसरेका विघातक हो; परन्तु यहॉ दोनो-का उद्देश्य एक ही है। इसलिये हम इन्हे विरोधी धर्म नही कह सकते। उनमेसे अगर हम ईश्वर-कर्तृत्ववादको वैज्ञानिक दृष्टिसे

असत्य मान ले, तो भी वह अधर्म नहीं कहा जा सकता। जो भावुक है उनके लिये ईश्वर-कर्तृत्ववाद अधिक उपयोगी है। वे यह सोचते है कि ईश्वरके भरोसे सब छोड़ देनेसे हम निश्चिन्त हो जाते है, हममे कर्तृत्वका अहंकार पैदा नही होता, पुण्य-पापका विचार रहता है। जो बुद्धिपर अधिक जोर देते है, वे तर्कासिद्ध न होनेसे ईश्वरको नही मानते। वे सोचते है कि ईश्वरको कर्ता न माननेसे हम स्वावलम्बी बनते है—हम ईश्वरको प्रसन्न करनेकी कोशिश करनेकी अपेक्षा कर्तव्यको पूर्ण करनेका प्रयत्न करते है, हमारे पापोको कोई माफ करनेवाला नही है, इस विचारसे हमे पापसे भय पैदा होता है। जिस धर्मने ईश्वरको माना है, उसने भी इसीलिये माना है कि मनुष्य पाप न करे। जिसने ईश्वरको नही माना, उसने भी इसीलिए नही माना कि मनुष्य पाप न करे। दोनोका लक्ष्य एक है और दोनो ही प्राणियोको सुखी बनाना चाहते है, और एक अंशमे उन्हे सफलता भी मिली है। इतना ही नहीं, परलोकको न माननेवाले नास्तिकोने भी परलोकको नही माना, उसका कारण सिर्फ यही था कि मनुष्य-समाज सुखी रहे। जब परलोकके नामपर एक वर्ग लूट मचाने लगा और भोले भाले लोग ठगे जाने लगे, विवेकशून्य होकर दुःख सहनेको जब लोग पुण्य समझने लगे, तब नास्तिक धर्म पैदा हुआ। इस प्रकार आस्तिकताकी सीमापर पहुँचे हुए ईश्वर-कर्तृत्ववादी और नास्तिकताकी सीमापर बैठे हुए परलोकाभाववादी, अपने अपने धर्मका प्रचार सिर्फ इसीलिये करते थे कि मनुष्य निष्पाप बने, एक प्राणी दूसरे प्राणीको न सतावे। यह हो सकता है कि इनमेसे कोई धर्म कम सफल हो कोई अधिक, कोई अल्पकालिक हो

कोई चिरकालिक; परन्तु यह निश्चित है कि अपने अपने देश-कालमे सब धर्मोंने मनुष्य-समाजको सुखी बनानेकी और समाजके दुःखमूलक विकारोको दूर करनेकी चेष्टा की है।

अब हिंसा-अहिंसाके प्रश्नको लीजिये। जैनधर्म और बौद्धधर्ममे अहिंसापर बहुत जोर दिया गया है। परन्तु जिन धर्मोंने हिंसाका विधान किया है, वे अपने समयमे भी इतने ही अनुचित थे जितने आज है—यह नही कहा जा सकता। जिस समय यहाँ जङ्गलोकी बहुलता थी, जङ्गली जनवरोंसे कृषिकी रक्षा असम्भव थी, उस समयपर मनुष्य-समाजकी रक्षाके लिये हिंस्र तथा कृषिविघातक जानवरोका यज्ञ तथा शिकार आदिसे नाश किया गया, यह अक्षन्तव्य नही है। यह बात दूसरी है, कि पीछेसे इस हिंसाकी आवश्यकता न होनेपर भी लोगोने नामवरीके लिये या व्यसनके लिये ये कार्य किये। आज हज़ारो वर्षसे यहाँ कृषि-कार्य हो रहा है, इसलिये उस समयके कष्टकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते जब लोगोको कृषि-रक्षाके लिये या आत्म-रक्षाके लिये इस प्रकार हिंसाके विधान करना पड़े। आज यह हिंसा-विधान कई हजार वर्षोंसे अनावश्यक है, इसलिये वर्तमानकालकी दृष्टिसे हमे हक है कि हम उसे अनुचित कहे; और अनुचित और पापमे तो सिर्फ शब्द-मात्रका अन्तर है।

इस तरह यह हिंसाविधायक धर्म भी एक समयके लिए आवश्यक था। किन्तु हमारा सबसे बड़ा पाप तो यह है कि एक समयके लिए जो आवश्यक था वह सब समयके लिए आवश्यक मान लेते हैं। जिस समय कृषि-कार्य अच्छी तरहसे चलने लगा, जंगली पशु भी पालतू पशु हो गये, यहाँ तक कि हम उनका दूध तक पीने लगे, इस तरह वे हमारे सहयोगी होकर नागरिक बन गये, उस समय-

पर उन मित्रोकी हत्या करना क्या उचित था? जब हम उनकी हिंसा किये विना जीवित रह सकते थे, तब क्या हमे उनकी रक्षा न करना चाहिये थी? क्या यह तामसिकता हमारे अध:पतनका कारण न थी? यही सोचकर महात्मा महावीर और महात्मा बुद्धने हिंसाके विरुद्ध क्रान्ति की। एक समय जो उचित था या क्षन्तव्य था, दूसरे समयमे वही अनुचित था, पाप था, इसलिये उसके दूर करनेके लिए जो क्रान्ति हुई वह धर्म कहलाई।

हिंसा-अहिंसाके प्रश्नके साथ गो-वधके प्रश्नको ले लीजिये। नि:सन्देह किसी भी निरपराध प्राणीकी हत्या करना बड़ा भारी पाप है और हिन्दुस्थानमे गोवध करना तो बड़ेसे बड़ा पाप है। परन्तु मुसलमान धर्म जब और जहाँ पैदा हुआ वहाँकी दृष्टिसे हमे विचार करना चाहिए। महात्मा मुहम्मदके जमानेमे अरबकी बड़ी दुर्दशा थी। मूर्तियोके नामपर वहाँ मनुष्य-वध तक होता था। इसको दूर करनेके लिए उनने मूर्तियोको हटा दिया। "न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी"—न मूर्त्तियाँ होगी, न उनके नामपर बलि होगा। परन्तु इतनी विशाल क्रान्ति, लोग सह नहीं सकते थे। पात्रताके अनुसार ही सुधार होता है। इसलिए मनुष्य-बलि बन्द हुई और गो-वध आया। हिन्दुस्तानमे गो-वंश कृषिका एक मात्र सहायक होनेसे यहाँ उसका मूल्य अधिक है। इसीलिए गो-माता सरीखे शब्दकी उत्पत्ति यहाँ हुई है। परन्तु अरबमे कृषिके लिए गो-वंशकी आवश्यकता नहीं है—वहाँ ऊँटोसे खेती होती है। यदि बलि आदिको रोकनेके लिए मुहम्मद साहबने मूर्त्तियाँ हटा दीं, मनुष्य-वध रोकनेके लिए गो-वधका विधान किया, तो 'सर्वनाश उपस्थित होनेपर आधेका

त्याग कर देना चाहिये* ' इस नीतिके अनुसार उस कालको देखते हुए यह अनुचित कहा नही जा सकता। जैनशास्त्रोमे एक कथा प्रचलित है कि मुनिके उपदेश देनेपर भी जब एक भील किसी तरहका मांस छोडनेको राज़ी न हुआ, तो उन्होने उससे काक-मांसका ही त्याग कराया। इसका यह अर्थ नही है कि अन्य मासोका विधान कराया गया; सिर्फ शक्यानुष्ठानकी दृष्टिसे यह बात भी उचित समझी गई। इस दृष्टिसे मुहम्मद साहबके समयमे अरबकी स्थितिपर विचार करके इस्लामकी आलोचना करना चाहिये। परन्तु, भूल है उनकी, जो मुहम्मद साहबके अनुयायी होकरके भी मुहम्मद साहबकी दृष्टिपर विचार नही करना चाहते। शोधा हुआ सखिया असाधारण बीमारीमे दवाईका काम करता है; परन्तु बीमारीकी परिस्थिति हट जानेपर उसे कोई अपना भोजन बना ले, तो बीमार हो जायगा। ऐसी हालतमे हम उस वैद्यको बुरा न कहेगे जिसने बीमारीके अवसरपर सखिया खिलाया; बुरा कहेगे हम उन्हे, जिनने बीमारीके हट जानेपर भी सखियाको सदाके लिए भोजन बना लिया। मुहम्मद साहबके अनुयायी, जो कि भारतवर्षमे रहते है, अगर मुहम्मद साहबकी दृष्टिसे काम ले तो वे कभी गो-वधका विधान न करे। मनुष्य-वधके युगमे पशु-वधका विधान क्षन्तव्य कहा जा सकता है; परन्तु जिस देशमे वनस्पतिके स्पर्शमे भी घोर हिंसा माननेवाले हो उस देशमे पशु-वधके विधानकी क्या आवश्यकता है? वहाँ तो यह पाप है। अगर हम इस बातको समझे,

---

* सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्धं त्यजति पंडितः।

तो इस्लामियोके वर्तमान कार्योको अनुचित समझते हुए भी इस्लामको सहन कर सकेगे ।

अब मै वैदिक धर्मकी एक बात लेता हूँ । वैदिक धर्मकी वर्णाश्रम-व्यवस्था जैनधर्मको मान्य नहीं है । परन्तु यह कहना ठीक नही कि वैदिकधर्मका पक्ष असत्य है या जैनधर्मका पक्ष असत्य है । वैदिक-धर्मकी वर्णाश्रम-व्यवस्थाको समझनेके लिये हमे अपनी दृष्टि कई हजार वर्ष पहले ले जाना चाहिये । हम देखते है कि उस समय आर्योको कृषि और सेवाके लिये आदमी नहीं मिलते—सभी आदमी अयोग्य रहते हुए भी पडिताई या सैनिक जीवन बिताना चाहते है । आवश्यक क्षेत्रमे आदमी नहीं मिलते; अनावश्यक क्षेत्रमे इतने आदमी भर गये है कि बेकारी फैल गई है । हरएक आदमी महीनेमे तीस बार अपनी आजीविका बदलता है । वह किसी भी काममे अनुभव प्राप्त नही कर पाता । ऐसी हालतमे वर्ण-व्यवस्थाकी योजना होती है । इससे अनुचित प्रतियोगिता बन्द होकर आजीविका-के क्षेत्रका यथायोग्य विभाग होता है । परन्तु इसके बाद महात्मा महावीरके जमानेमे हम देखते है कि वर्णोने जातियोका रूप पकड़ लिया है । पशुओमे जैसे हाथी घोड़ा आदि जातियाँ होती है, उसी प्रकार आजीविकाकी सुविधाके लिये किया गया यह सुप्रबन्ध, मनुष्य-जातिके टुकड़े टुकड़े कर रहा है ! पारस्परिक सहयोगके लिए की गई वर्णव्यवस्था परस्परमे असहयोग और घृणाका प्रचार कर रही है ! सिर्फ़ आजीविकाके क्षेत्रके लिये किया गया यह विभाग रोटी-बेटी-व्यवहारमे भी आड़े आ रहा है ! इसके कारण दुरा-चारी ब्राह्मण सदाचारी शूद्रकी पूजा नही करना चाहता, किन्तु

उसे पददलित करना चाहता है ! तब वर्ण-व्यवस्थाका विरोध करना परम धर्म हो जाता है, क्योंकि यह व्यवस्था अब दुःखदायी हो जाती है । यही बात आश्रम-व्यवस्था की है । जब जीवनकी जिम्मेदारियो-से मुँह छुपानेवाले अपने माता-पिताको रोते छोड़कर भागने लगे, समाज अनुत्तरदायी युवा-साधुओंसे भर गया, तब आश्रम-व्यवस्थाकी आवश्यकता हुई । यह नियम बनाया गया कि हरएक आदमीको पितृ-ऋण चुकाना चाहिये, अर्थात्, माता-पिताकी सेवा करना चाहिये और जिस प्रकार माता-पिताने उसे पालन किया है, उसी प्रकार उसे अपनी संतानका पालन करना चाहिये, पीछे वानःप्रस्थ रहकर सन्यासका अभ्यास करना चाहिये; फिर सन्यास लेना चाहिये । अब आप देखें कि यह व्यवस्था संसारकी भलाईके लिये कितनी अच्छी है ! परन्तु यदि राजकुमार सिद्धार्थ इसी व्यवस्थासे चिपटे रहते, तो वे महात्मा बुद्ध न बन पाते । उस समय जो महात्मा बुद्धके द्वारा समाज और धर्मका संशोधन हुआ वह न हो पाता । इसलिये महात्मा बुद्धने युवावस्थामें ही गृह-त्याग किया । यह भी संसारके कल्याणके लिये बहुत अच्छा हुआ । परन्तु यदि अपवादोंको राज-मार्ग बना दिया जाय, तो इसी कल्याणके कारण अकल्याण भी हो सकता है । जब महात्मा बुद्धने अपने पुत्र राहुलको भी छोटी उमरमें दीक्षित कर लिया, तब उनके पिता महाराज शुद्धोदनने आकर कहा—

"भगवानके प्रव्रजित होनेपर मुझे बहुत दुःख हुआ था, वैसे ही नन्दके प्रव्रजित होनेपर भी । राहुलके प्रव्रजित होनेपर अत्यधिक। भन्ते ! पुत्र-प्रेम मेरी छाल छेद रहा है, छाल छेदकर चमड़ेको छेद

रहा है, चमड़ेको छेदकर मांसको छेद रहा है, मांसको छेदकर नसको छेद रहा है, नसको छेदकर हड्डीको छेद रहा है, हड्डीको छेदकर घायल कर दिया है। अच्छा हो भन्ते! आर्य, मातापिताकी अनुज्ञाके बिना किसीको दीक्षित न करे।"

इसके बाद महात्मा बुद्धने भिक्षुओंको एकत्रित किया और नियम बनाते हुए कहा—

"भिक्षुओ, माता-पिताकी अनुज्ञाके बिना पुत्रको दीक्षित न करना चाहिए; जो करे उसे दुक्कट (दुष्कृत) का दोष है।"

आप देखें कि दीक्षाके मार्गमे यह रुकावट कितनी अच्छी थी! महात्मा महावीरने तो यह रुकावट शुरूसे ही रक्खी। इतना ही नही, अपने जीवनमे ही उनने इसका पालन किया। माता-पिताकी अनुज्ञाके बिना वे कई वर्ष रुके रहे। आश्रम-व्यवस्था, महात्मा बुद्धका अपवाद तथा इस विषयमे महात्मा महावीरका प्रारम्भसे और महात्मा बुद्धका राहुलको दीक्षित करनेके बादका मध्य-मार्ग, ये तीनो अपने अपने देश-कालके लिए उपयोगी रहे है। इसलिए इन तीनोंमे कुछ विरोध नही कहा जा सकता।

अब थोड़ासा विचार द्वैत और अद्वैतपर भी कीजिए। अद्वैतवादी कहता है कि सब जगत्का मूल तत्त्व एक है, द्वैत भावना करना संसारका कारण है। इस प्रकारका विचार करनेवाला मनुष्य, यह मेरा स्वार्थ, वह दूसरेका स्वार्थ, यह विचार ही नही ला सकता। वह तो जगत्के हितमे अपना हित समझेगा। जिस वैयक्तिक स्वार्थके पीछे लोग नाना पाप करते है, वह वैयक्तिक स्वार्थ उसकी दृष्टिमे न रहेगा। वह निष्पाप बनेगा। द्वैतवादी कहेगा—मूल तत्त्व दो

है, मै आत्मा हूँ और मेरे साथ लगा रहनेवाला पर-तत्त्व पुद्गल जुदा है। मै इस 'पर' के बन्धनमे पडकर पराधीन हूँ, दुःखी हूँ, मुझे इस बन्धनको तोडना चाहिए। यह समझकर वह शरीरकी अपेक्षा आत्माको मुख्यता देता है, शरीरके लिए कोई पाप नहीं करता। इस तरह द्वैत-भावना उसे निर्विकार बननेको प्रोत्साहित करती है।

इस तरहके बहुतसे उदाहरण दिये जा सकते है। उन परसे हमे मालूम होगा कि धर्मको प्राप्त करनेके लिए जो सम्प्रदाय बने है, वे जब बने थे तब उस द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावके अनुसार किसी उप-योगी—कल्याणकारी—तत्त्वको लेकर बने थे। तभी वे खडे हो सके। इसलिए मै इस बातको कहनेका साहस करता हूँ कि सम्प्रदायोंके मौलिक (असली) रूपोंका धर्मके साथ—कल्याणके साथ—कोई विरोध नहीं है।

हाँ, हर एक सम्प्रदायके सिद्धान्तोका पीछेसे दुरुपयोग होता है। परन्तु इससे हम उन सम्प्रदायोंको बुरा नही कह सकते। दुरुपयोग तो अच्छेसे अच्छे तत्त्वका होता है। अहिसा सरीखे श्रेष्ठ तत्त्वका दुरुपयोग होकर कायरताका प्रचार हुआ है। दीक्षाके नामपर बालक-विक्रय या बालक-चोरी भी होती हैं, द्वैतके नामपर स्वार्थका ही पोषण हो सकता है, अद्वैतके नामपर सब स्त्रियोमें अद्वैत भावना रखकर व्यभिचारका पोषण हो सकता है। इसलिए दुरुपयोगको हटाकर हमे हरएक सम्प्रदायके मौलिक रूपपर विचार करना चाहिए और उसी दृष्टिसे उसकी आलोचना करना चाहिए। तब हमे सब सम्प्रदाय अपने अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावके अनुसार अविरुद्ध और अभिन्न मालूम होगे, और अपनी योग्यतानुसार हम उन सभीसे लाभ उठा सकेंगे।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि अगर इस प्रकार सब धर्मोको अच्छा साबित करनेकी कोशिश की जायगी, तो अच्छे और बुरेका विवेक ही नष्ट हो जायगा, सब लोग वैनयिक मिथ्यादृष्टि हो जायँगे । परन्तु मेरे उपर्युक्त वक्तव्यमे इस प्रश्नका उत्तर है । मेरे उपर्युक्त वक्तव्यमे सर्व-धर्म-समभावका जो विवेचन किया गया है, उसमे सब धर्मोको सर्व-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावके लिये अच्छा नही बताया है, किन्तु यह कहा गया है कि सब धर्मोका अपने अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावमे उपयोगी स्थान है । किस द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावमे किस धर्मका कितना उपयोगी स्थान है, इसका निर्णय तो विवेकसे होता है; जब कि वैनयिक मिथ्यादृष्टिके पास विवेक नामकी कोई चीज़ ही नही होती ।

यह हो सकता है कि एक धर्म अधिक समयके लिये और अधिक प्राणियोके लिये उपयोगी हो और दूसरा कम हो, परन्तु इससे कोई भी निरुपयोगी नही कहा जा सकता । सबका अपना अपना स्थान है । सुईकी अपेक्षा तलवारकी कीमत ज्याद: हो सकती है, परन्तु सुईका काम तलवार नही कर सकती; अपने अपने स्थानपर दोनो ही ठीक है । दोनोको अपने अपने समयपर उपयोगी समझना एक बात है और स्वरूपमे अविवेक रखना दूसरी बात है । वैनयिक मिथ्यादृष्टि किसी धर्मकी उपयोगिता नही समझता, वह तो अविवेकसे सबको एक समझता है । इसलिये वैनयिक मिथ्यादृष्टिमे और सर्व-धर्म-समभावीमे जमीन आसमानसे भी अधिक अन्तर है ।

यहाँ दूसरा प्रश्न यह उठता है कि अहिंसा आदि धर्मोका तत्त्व न्यूनाधिक रूपमे सब धर्मोमे पाया जाता है, परन्तु विश्वकी समस्याको

सुलझानेके लिये सभी धर्म एक दूसरेसे इतना अधिक विरुद्ध कथन करते है कि उन सबका समन्वय करना मुश्किल है। कोई द्वैत मानता है, कोई अद्वैत मानता है; कोई ईश्वर मानता है, कोई नहीं मानता। भला इन सब बातोका कोई मेल कैसे कर सकता है? और जब इनमेसे किसी एक धर्मकी बात युक्ति आदिसे विरुद्ध सिद्ध होती हो, तब उस धर्मको असत्य समझते हुए भी सत्यके समान उसका आदर कैसे किया जा सकता है?

निःसन्देह यह एक आवश्यक प्रश्न है; परन्तु इसका कारण है धर्मकी मर्यादाका भूल जाना। हमे यह समझ लेना चाहिये कि धर्म, धर्म है, वह दर्शन नही है, भौतिक विज्ञान नहीं है, गणित नही है, ज्योतिष नही है, इतिहास नही है, भूगोल नही है। धर्मशास्त्र इन सबका उपयोग करता है, परन्तु ये सब धर्मशास्त्र नही है। अर्थशास्त्रमे गणितका उपयोग होता है, परन्तु गणित अर्थशास्त्र नहीं कहलाता। काव्यमे व्याकरणका उपयोग होता है, परन्तु व्याकरण काव्य नही कहलाता। व्याख्यानके लिये व्याख्यान-भवनका उपयोग होता है, परन्तु व्याख्यान-भवन व्याख्यान नही कहलाता। इसी प्रकार धर्मके लिये दर्शनका उपयोग होता है, परन्तु दर्शन, धर्म नही कहला सकता। धर्म और दर्शन ये जुदे जुदे शास्त्र है।[१] धर्मशास्त्रका काम है कि प्राणियोको सुखी बननेका मार्ग बतलाये; जब कि दर्शनका काम है कि विश्वके रहस्यको प्रकट करे। ये सब शास्त्र धर्मशास्त्रके सहायक हैं। परन्तु आज तो हर एक विषय धर्मशास्त्रमे ठूँस दिया गया है, इसीलिये जैन-ज्योतिष, जैन-भूगोल, जैन-गणित, जैन-व्याकरण, आदि

---

१ Religion and Philosophy

शब्दोकी रचना हुई है। कोई जैन-भूगोलका खंडन करके यह अभिमान करे कि मैने जैनधर्मका खंडन कर दिया, तो वह भूलता है। किसी भी धर्मका खंडन तब कहा जा सकता है जब कि उस धर्मके द्वारा बतलाया हुआ आचरणीय मार्ग प्राणि-समाजको दुःखदायक साबित कर दिया जाय। दर्शन आदिका काम वस्तुके विषयमे विचार करना या निर्णय करना है, परन्तु धर्मशास्त्रका काम उस निर्णयको सुखोपयोगी बना देना है। धर्मका सुखसे साक्षात् सम्बन्ध है, जब कि दर्शन, ज्योतिष आदिका परम्परासम्बन्ध है। यही कारण है कि किसी अन्य शास्त्रके प्रवर्तककी अपेक्षा धर्मप्रवर्तकका स्थान ऊँचा है। इसलिये दर्शनोमे परस्पर विरोध होनेसे हमे धर्ममे विरोध न समझना चाहिये।

यहाँ एक तीसरी शंका पैदा होती है कि दर्शनको अगर हम धर्मशास्त्रसे जुदा भी कर दे, तो भी धर्मोमे परस्पर भिन्नता रह जाती है और अगर हम उनमे सम-भाव रखने लगे, तो हमारे लिये यह निर्णय करना कठिन हो जायगा कि हम किस धर्मका पालन करे।

इसके उत्तरमे सक्षेपमे मेरा कहना यही है कि आप किसी भी धर्मका पालन करे, परन्तु इन दो बातोका खयाल रक्खे—

प्रथम तो यह कि जब कोई धर्म पैदा होता है या नये रूपमे दुनियाँके सामने आता है तब उसके सामने उस समयकी परिस्थिति रहती है, इसलिये उसका रूप उस परिस्थितिके अनुकूल होता है। कालान्तरमे वह परिस्थिति बदल सकती है। सम्भव है आज भी वह परिस्थिति बदली हुई हो। इसलिये परिस्थितिके प्रतिकूल तत्त्वोको अलग करके हमे अपने धर्मको अर्थात् सम्प्रदायको सच्चा धर्म बना लेना चाहिये।

दूसरी बात यह है कि अपने धर्मका चाहे पुराना रूप हो, चाहे नया अर्थात् सुधरा हुआ रूप हो, वह अमुक परिस्थितिमे अमुक श्रेणीके लिये ही है। अपने धर्मको हमे सम्पूर्ण धर्म नही, परन्तु धर्मकी एक अवस्था या धर्मका एक अश कहना चाहिए। जैनशास्त्रोकी परिभाषामे अगर मै धर्मको 'प्रमाण' कहूँ तो जुदे जुदे नामोसे प्रचलित धर्मोंको अर्थात् सम्प्रदायोको नय कहूँगा। 'नय' प्रमाणका अश है न कि पूरा प्रमाण; सम्प्रदाय धर्मका अंश है, न कि पूरा धर्म।

किसी धर्मको सच्चा कहना या मिथ्या कहना, यह उसके स्वरूपपर नही किन्तु अपेक्षापर निर्भर है। नय, सच्चा नय तभी कहलाता है जब कि वह दूसरे नयका विरोध नही करता। दूसरे नयका विरोध करनेवाला नय मिथ्या नय या दुर्णय कहा जाता है।

इसी प्रकार सम्प्रदाय भी वही धर्म कहा जा सकता है, जो दूसरे सम्प्रदायका विरोध नही करता। अगर कोई सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदायका विरोध करता है, उसकी दृष्टिको गौण ही नही करता किन्तु नष्ट भी करता है, तो वह सम्प्रदाय मिथ्यात्व है, पाखण्ड है। ये सब जुदे जुदे, एक दूसरेके शत्रु बनकर खड़े होगे, तो पाखण्ड कहलायँगे और मिल करके खड़े होगे, तो सत्य कहलायेंगे, धर्म कहलायेंगे।

धर्मोंकी विविधताका रहस्य समझनेके लिये निम्नलिखित सूत्रोका स्मरण रखना उपयोगी होगा—

१—धर्म एक ही है और वह सुख-मार्ग है।

२—द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावके अनुसार उसके स्वरूप अनेक है।

निरपेक्षाः नयाः मिथ्या सापेक्षाः वस्तु तेऽर्थकृत्।

—समन्तभद्र

३—धर्मके अश होनेसे वे स्वरूप भी धर्म कहलाते है ।

४—प्रत्येक सम्प्रदाय अगर दूसरे सम्प्रदायको सिर्फ अविवक्षित करता है, उसका विरोध नही करता तो वह धर्म है, अन्यथा अधर्म है ।

५—दर्शन, इतिहास, भूगोल आदि धर्मशास्त्र नही है ।

६—जिस प्रकार अंशसे अंशीका ज्ञान किया जाता है उसीप्रकार हम प्रत्येक सम्प्रदाय रूप अंशसे धर्मरूप अंशीका ज्ञान कर सकते है । शर्त यह है कि उसमे अनेकान्त—स्याद्वाद—अर्थात् सर्व-धर्म-सम-भावका तत्त्व होना चाहिये ।

धर्मका उद्देश्य

साधारण लोगोकी मान्यता यह है कि धर्म परलोकके लिए है । यह बात मानी जा सकती है कि धर्मसे परलोक सुधरता है, परन्तु धर्मोकी उत्पत्ति लौकिक आवश्यकताका ही फल है । पारलौकिक फल तो उनका आनुषङ्गिक फल है । जैनशास्त्रके अनुसार जिस समय यहॉ भोगभूमि थी अर्थात् युगलियोका युग था, उस समय यहॉंपर कोई भी धर्म नही था, जैनधर्म भी नहीं था । इसका कारण यही है कि उस समय मनुष्यको कोई लौकिक कष्ट नही था । उस समय साम्यवाद इतने व्यापक रूपमे था कि प्राकृतिक दृष्टिसे भी लोगोमे कोई विषमता नही थी । जैन-शास्त्र कहते हैं कि उस समय स्त्री-पुरुषोके शरीरकी दृढ़तामे भी विषमता नहीं थी; उस समय कोई राजा या अफसर नहीं था, वैयक्तिक सम्पत्ति नही थी, अत्याचार अनाचार आदि नही था; स्वामी-सेवकका भेद न था, अकालमृत्यु और बीमारी नही थी । जैन-शास्त्र उस

कालको पहिला आरा या सबसे अच्छा काल कहते है और कहते है कि उस समय कोई धर्म नही था । जैनशास्त्रोके इस वर्णनका ऐतिहासिक मूल्य भले ही कुछ न हो; परन्तु उससे इतना तो मालूम होता है कि जैनधर्मके संस्थापक प्रवर्तक और सञ्चालक जिसे सबसे अच्छा काल कहते है, वह काल धर्मरहित था । जैनधर्मके अनुसार जब यह काल नष्ट हो गया, कष्ट बढ़े उसके बाद अनेक धर्म पैदा हुए । इससे यह बात सिद्ध होती है कि जब तक समाजमे विषमता पैदा नही होती, समाज दु:खी नही होता, तब तक कोई धर्म पैदा नही होता । धर्मकी उत्पत्ति दु:खको दूर करनेके लिये ही हुई है । गीताके शब्दोमे भी दु:खको दूर करनेके लिए ईश्वरका या धर्मका अवतार होता है । महात्मा बुद्धने संसारको दु:खसे छुड़ानेके लिए एक धर्मसस्थाको जन्म दिया । महात्मा ईसा, महात्मा मुहम्मद आदि संसारके सभी धर्म-संस्थापकोने दु:खी समाजके दु:खको दूर करनेके लिए धर्म-संस्थापना की है और अपना जीवन अर्पण किया है। धर्म सुखके लिए है, इस सर्वसम्मत बातको सिद्ध करनेके लिए अधिक प्रमाण देनेकी जरूरत ही नही है ।

धर्मकी आवश्यकता क्यो हुई, जब हमे यह बात मालूम हो गई, तब धर्म क्या है, इसके समझनेमे विशेष कठिनाई नही रह जाती । उस समय धर्मका यह सीधा सादा लक्षण हमारे ध्यानमे आ जाता है कि जिस नीति या मार्गसे दु:ख दूर हो सकता है उसे धर्म कहते है । इसलिये अगर हम धर्मको समझना चाहते हो, तो हमे जगत्के दु:खो और दु:खोके दूर करनेके उपायको जान लेना चाहिये । इसके बाद धर्मकी मीमांसा करना कठिन नही है ।

त्रिविध दुःख ।

प्रत्येक प्राणी संसारके विविध दुःखोसे घबराया हुआ है । उसे सुखकी अपेक्षा दुःख कई गुणा भोगना पड़ता है । इस दुःखको हम तीन अशोमे विभक्त कर सकते है—

(१) बाह्य प्रकृति और हमारे शरीरकी रचना ही कुछ ऐसी है कि वह दुःखके कारण जुटाती रहती है ।

(२) सामग्री कम है, भोगनेवाले ज्याद: है; और तृष्णा और भी ज्याद: है, इसलिये प्राणियोमे परस्पर सघर्ष होता है जिससे अनेक तरहके अन्याय और अत्याचार होते है । इससे दुःख बढ़ जाते है ।

(३) मनुष्यको सुखी रहनेकी कलाका ज्ञान नही है, इसलिये उसे दुःखका अनुभव जितना होना चाहिये उससे अधिक होता है । ईर्ष्या आदिसे वह अनावश्यक दुःखोकी सृष्टि करता है ।

इन तीनो प्रकारके दुखोको हम क्रमसे प्राकृतिक, परप्राणिकृत और स्वकृत कह सकते है ।

प्राणियोका शरीर घृणित है, बहुत ही जल्दी इसमे रोग होते है, भोगोसे यह कमज़ोर हो जाता है, अपने आप भी शिथिल हो जाता है और अन्तमे इच्छा न रहते हुए भी नष्ट हो जाता है । इधर प्रकृति भी हमारी इच्छाके अनुसार काम नही करती । हम चाहते है कि हवा चले, परन्तु हवा नही चलती । हम चाहते है कि ठण्डी हवा चले, तो गरम चलती है । इस प्रकार न तो प्रकृति हमारी इच्छाओकी या हमारे शरीरकी आवश्यकताओकी गुलाम है, न शरीर हमारी इच्छाओके अनुसार काम करता है । इन दुःखोसे बचनेके लिये परस्पर सहयोगसे एक दूसरेके दुःखोको दूर करना तथा सहनशील

बनना सिखाया जाता है। सहनशीलता और परस्पर प्रेम या सहयोगसे हम दुःखोंसे बहुत कुछ सुरक्षित रह सकते है। कुछ तो दुःखके निमित्त कारण दूर हो जाते है और जो कुछ रहते है, वे हमारे ऊपर प्रभाव नही डाल पाते-अर्थात् हमे दुःखी नही बना पाते। प्राकृतिक दुःखोको दूर करनेका इससे बढ़कर कोई उपाय नही है।

परप्राणिकृत दुःखोको कम करनेके लिये भी धर्मकी आवश्यकता है। जितनी सामग्री है और जितने भोगनेवाले है, उनकी योग्य व्यवस्था करनेसे परप्राणिकृत दुख कम किये जा सकते है। "जिसकी लाठी उसकी भैस" के सिद्धान्तके अनुसार बलवान् अगर निर्बलोको पीड़ा देते रहे, तो कोई भी मनुष्य सुखी न हो सकेगा। छीना-झपटीसे भोग-सामग्रीमे वृद्धि तो हो नही सकती, बल्कि कुछ हानि ही होगी, और कोई भी प्राणी निराकुलतासे उसका भोग न कर सकेगा। अगर कोई किसीको न सतावे, न धोखा दे, न उसकी चोरी करे, तो सभी लोग न्याय-प्राप्त सामग्रीका निराकुलतासे भोग कर सकेगे। इसलिये सबको संयमसे काम लेनेकी आवश्यकता है।

सयमके दो भेद किये जाते है—इन्द्रिय-सयम और प्राणि-संयम। इन्द्रियोंको वशमे करनेको इन्द्रिय-सयम कहते है। इन्द्रिय-संयमी मनुष्य अपने जीवन-निर्वाहके लिये कमसे कम सामग्रीका उपभोग करता है, वह बची हुई सामग्री दूसरोके काम आती है, इससे संघर्ष कम होता है और सुख बढ़ता है। अगर एक मनुष्य अधिक सामग्रीका उपभोग करेगा तो दूसरेको कमी पडेगी, इससे दूसरा मनुष्य दुखी होगा और संघर्षसे दोनो दुखी होगे। एक अच्छे राज्यमे जो कार्य कानूनके बलपर कराया जाता है, धर्म वही कार्य आत्म-शुद्धिके मार्गसे कराना चाहता है।

यद्यपि कानूनके मार्गसे धर्म समता-प्रचारका विरोधी नही है, फिर भी उसका जोर आत्म-शुद्धिपर है। क्योकि क़ानूनके बलपर जिस समताका प्रचार किया जाता है वह अस्थिर होती है और सिर्फ़ बहिर्ज्वालाओको दूर कर पाती है। लोगोकी तृष्णा शान्त नही होती; अवसर मिलनेपर वे मनमाना भोग करते है। उनमे वह उदार दृष्टि नही रहती, जिससे मनुष्य त्यागमे सुखका अनुभव करता है। हाँ, 'कुछ न होनेसे कुछ अच्छा' इस उक्तिके अनुसार जहाँ आत्म-शुद्धिके सयमका यथायोग्य प्रचार न हो सकता हो, वहाँ क़ानूनसे काम लिया जाय; परन्तु यह कानूनी संयम जब आत्मिक सयमके रूपमे परिणत हो जाय तभी सच्चा सुख प्राप्त होगा। क्योकि इसमे वे लोग भी सुखी होगे, जो प्राप्त हुई अधिक सामग्रीका त्याग करेगे, अथवा अधिक सामग्रीको प्राप्त करनेकी शक्ति रहते हुए भी अधिक सामग्रीको प्राप्त करनेकी चेष्टा न करेगे। इससे सघर्ष और अशान्ति रुकेगी।

दूसरा संयम प्राणि-सयम है। इसमे दूसरे प्राणियोको दुःख देनेका निषेध किया गया है। यह संयम तो बिलकुल स्पष्ट रूपमे दुःख निरोधक है। आजतककी अधिकाश सरकारोने इसी संयमके एक बहुत स्थूल और सकुचित भागको पालन करानेका काम किया है। पशु-पक्षियोके विषयमे इस संयमका पालन बहुत कम हुआ है और इन्द्रिय-संयमकी तरफ़ तो सरकारोका ध्यान नहीके बराबर गया है। परन्तु आज लोगोको इन्द्रिय-सयमकी उपयोगिता समझमे आने लगी है। क्योकि यह बात स्पष्ट हो गई है कि जबतक समर्थ लोग इन्द्रिय-सयमका पालन न करेगे या उनसे पालन न कराया जायगा, तब तक निर्बलोको पेटभर भोजन मिलना और प्रकृति-प्रदत्त

स्वाभाविक जीवन बिताना भी कठिन है। भले ही यह क़ानूनी संयम आत्मिक संयमकी बराबरी न कर सके; परन्तु इससे इतनी बात सिद्ध होती है कि संसारकी सुख-वृद्धि या दुःख-हानिके लिये संयम अनिवार्य है। सरकार रूपी इमारते इसी सयमकी नीवपर खडी होती है। हवा-पानीके समान सयम भी जीवनके लिये आवश्यक है।

इस संयमकी पूर्णता तो पूर्ण आत्म-विकासमे ही हो सकती है, परन्तु व्यावहारिक दृष्टिसे इस सयमकी पूर्णता-अपूर्णताका विचार करना है। जीवन-निर्वाहके लिये अपने उचित हिस्सेसे अधिक सामग्रीका उपयोग न करना पूर्ण इन्द्रिय-सयम है। जो इससे अधिक सामग्रीका उपभोग करे किन्तु मर्यादा रक्खे, वह अपूर्ण संयमी है। जो मर्यादा न रक्खे, वह अविरत या असयमी है। इसी प्रकार जो मनुष्य जीवनको रखनेके लिये अनिवार्य हिसासे अधिक हिसा नही करता वह प्राणि-सयमकी दृष्टिसे पूर्ण सयमी है। जैसे श्वास लेनेमे, चलने-फिरनेमे, शौचादिमे हिसा अनिवार्य है। यद्यपि इन कार्योमे यत्नाचार करना आवश्यक है, फिर भी कुछ न कुछ द्रव्य-हिसा अवश्य होगी। यह अनिवार्य है। इस अनिवार्य हिंसासे जो अधिक हिंसा करे, किन्तु मर्यादा रक्खे वह अपूर्णसयमी है। जो अमर्याद हिसा करे, वह असयमी है। इसी प्रकारके और भी उदाहरण दिये जा सकते है।

इस चर्चासे यह बात सिद्ध हो जाती है कि धर्ममे बताये हुए ये दोनो संयम, शरीर शोषक, जीवन-नाशक, और परलोकमे ही फल देनेवाले नही है, किन्तु इनसे जीवन और शरीरकी रक्षा है और परलोकके सुखकी अपेक्षा ऐहिक सुखके लिए इनकी आवश्यकता अधिक है। इसलिये सयमका ध्येय दुख नही, सुख है।

पर-सुखमें निज-सुख

यद्यपि संयम, सुखके लिये आवश्यक है यह बात सिद्ध हो जाती है, फिर भी सामाजिक सुखकी वृद्धिका हिसाब कैसे लगाना चाहिये और उसके लिये कौनसी नीति निश्चित करना चाहिये, इस बातपर विचार करना आवश्यक है। यहाँ मै सुखके विषयमे कुछ नहीं कहता, क्योंकि वह स्वानुभवगम्य है। प्रश्न यह है कि किसका सुख यहाँ लिया जाय। साधारण दृष्टिसे तो यही कहना चाहिये कि प्रत्येक प्राणी अपने सुखके लिये प्रयत्न करता है। दूसरोंके सुखके लिए जो वह प्रयत्न करता है, वह इसीलिये कि दूसरोका सुख अपने सुखको बढ़ानेमे या सुरक्षित रखनेमे सहायक है। माँ-बाप भी भविष्यकी आशासे संतानसे प्रेम करते हैं। परन्तु अगर इस प्रकारका हिसाब रक्खा जाय कि जिससे हमे सुखकी आशा हो उसे ही हम सुखी करनेकी चेष्टा करे, तो हमे दूसरोसे बहुत कम सुख मिलेगा और दूसरोको हमसे बहुत कम सुख मिलेगा। हम रास्तेमे जाते जाते किसी गड्ढेमे गिर गये, उस समय हमे मनुष्य-मात्रसे सुखकी आशा करनी पड़ती है। प्रत्येक मनुष्यके जीवनमे ऐसे सैकड़ो प्रसंग आते है, जब उसे हरएक मनुष्यसे सहायताकी आवश्यकता होती है। अगर मनुष्य बिलकुल स्वार्थी हो जाय या ऐसे मनुष्योके ही हितका विचार करे जिससे उसे प्रत्युपकारकी आशा है, तो मनुष्य-जाति शीघ्र ही नष्ट हो जायगी। अनुभवने यह बतलाया है कि केवल त्यागके नामपर ही नहीं बल्कि सुखके लिये मनुष्यको परोपकार करना चाहिये, इसीमे मनुष्यकी

स्वार्थसिद्धि है। इसके लिए एक कल्पना कीजिये कि दो मनुष्य ऐसे है जो एक दूसरेको सहायता नही पहुँचाते। प्रत्येक आदमी सालमे एक मास बीमार रहता है, इसलिये उनके ग्यारह महीने सुखमे और एक महीना दुःखमे बीतता है। परन्तु दुःख मनुष्यको इतना असह्य है कि ग्यारह महीनेका सुख एक महीनेके दुःखके आगे कम माल्र्म होता है। अगर हम ग्यारह महीनेके नीरोगता (सुख) के अंश (डिग्री) ग्यारह सौ कल्पित कर लें, तो एक महीनेके दुःखके (ऐसी बीमारीके कि जिसमे कोई पानी देनेवाला भी नहीं है) अंश हमे २२०० मानना पड़ेगे। इस तरह इनमेसे प्रत्येक मनुष्यके हिस्सेमे ११०० डिग्री सुख और २२०० डिग्री दुख पड़ेगा। इस तरह हिसाब करनेपर प्रत्येकके हिस्सेमे ११०० डिग्री दुःख ही रह जायगा। परन्तु दो ऐसे मनुष्य है जो एक दूसरेको पूर्ण सहायता पहुँचाते है। इस लिये जब उनमे कोई बीमार पड़ता है तब उसे सिर्फ रोगका ही कष्ट होता है। इन दोनो रोगियोकी तुलना कीजिये। एक ऐसा है कि उसे न तो कोई पानी देनेवाला है, न औषध देनेवाला है, न उसे कोई खाने देता है। पेशाब आदि मल-त्याग वह बिस्तरमे या आस-पास कर लेता है। एक महीनेतक सफाई भी कोई नहीं करता। इस रोगीमे और उस रोगीमे जिसको इन सब कष्टोका सामना नही करना पड़ता, आकाश-पातालका अंतर है। उसका दुःख अगर २२०० डिग्री है, तो इसका सिर्फ २००। इस तरह इनमेसे प्रत्येकके हिस्सेमे ११०० डिग्री सुख और २०० डिग्री दुःख पड़ा। अगर अपने साथीकी परिचर्या करनेका कष्ट १०० अंश और जोड़ लिया जाय, तो इनका कष्ट ३०० डिग्री होगा।

इस तरह इन्हे ८०० डिग्री सुखरूपी मुनाफा हुआ जब कि पहिलेको ११०० डिग्री दु:खरूपी नुकसान है। कहनेका तात्पर्य यह है कि परोपकार करनेमे हमे जितना कष्ट उठाना पड़ता है, उससे असंख्य-गुणा कष्ट उसका कम हो जाता है जिसके साथ परोपकार किया जाता है। बच्चेको माँ-बाप पालते है इससे माँ-बापको कष्ट होता है जरूर, परन्तु बच्चेका कष्ट जितना कम होता है उससे दसवाँ हिस्सा भी माँ-बापका कष्ट नही बढ़ता। ये उदाहरण छोटे क्षेत्रमें है परन्तु विश्वभरके लिये इस नीतिसे काम लेनेमे संसारका सुख कई गुणा बढ़ जाता है। अपने अपने स्वार्थकी दृष्टि रखनेसे ससारमे जितनी सुख-सृष्टि हो सकती है, परोपकाररूप सहयोगसे वह सुख-सृष्टि वर्गधाराके समान बढ़ती जाती है। एक मनुष्य अगर एक डिग्री सुख पैदा कर सकता है, तो दो मनुष्य २×२=४ डिग्री सुख पैदा कर सकते है। इसी प्रकार तीन मनुष्य ३×३=९, चार मनुष्य ४×४=१६, पाँच मनुष्य ५×५=२५ डिग्री सुख पैदा कर सकते है। इसी नियमपर 'एकसे आधे दो से चार' की लोकोक्ति प्रचलित है। अगर स्वार्थियोका समाज और परोपकारियोका समाज, ऐसे दो समाज कल्पित किये जायँ, तो दोनो समाजके व्यक्ति सुखके लिये समान प्रयत्न करनेपर भी पहिलेकी अपेक्षा दूसरे समाजके मनुष्य असख्य-गुणे सुखी होगे। कहनेका तात्पर्य यह है कि यद्यपि मनुष्य अपने ही सुखके लिये प्रयत्न करता है; परन्तु परोपकारी हुए बिना संसारमे इतना सुख ही तैयार नहीं हो सकता जिससे उसे सुखका बहुत और अधिक स्थायी भाग मिले। इसलिये परोपकारको भी स्वार्थ—उच्चतम स्वार्थ—सात्विक स्वार्थ समझना चाहिये। परोपकारका क्षेत्र

विस्तीर्ण होगा, सुखका क्षेत्र भी विस्तीर्ण होगा, परप्राणिकृत दुःखको दूर करनेमे यह एक ऐसा उपाय है कि जिसमे किसी कल्पनाकी आवश्यकता नहीं है ।

कर्तव्याकर्तव्यका निर्णय करनेके लिए वेदान्तने इसी उपायको स्वीकार किया है । वेदान्तके अनुसार मूलमे सारा जगत् एक है । जिसे इस एकत्वका दर्शन हो जाता है, उसकी दृष्टिमे स्वार्थ और परार्थका भेद ही नही रह जाता है । इसमें आपत्ति है तो इतनी ही है कि प्राणियोके अनुभव जुदे जुदे होनेसे, तथा जड और चेतनमे सत्ता-सामान्यकी दृष्टिमे समता है, परन्तु वे दोनो एक ही तत्त्व नही हो सकते, इसलिए, संसार अनेक द्रव्यात्मक है । अनेकको एक माननेकी यह कल्पना बुद्धि-सगत नही है, इसलिए एकत्वके ऊपर विश्वास नही होता, तब उसको आधार बनाकर कर्तव्याकर्तव्यका निर्णय करना कैसे बन सकता है ? अगर हम यह समझ जायँ कि हमारा स्वार्थ परोपकारके बिना टिक ही नही सकता, तो भले ही दूसरे जीवोमे और पदार्थोमे हमसे व्यक्तिगत विभिन्नता हो, परन्तु हमे परोपकारको धर्म बनाना पड़ेगा और उसे स्वार्थका अंग मानना पड़ेगा । तात्पर्य यह है कि चाहे सब जड़-चेतन-संसारको एक मानो या जड़ और जीवको पृथक् पृथक्, परन्तु सुखी होनेके लिए परोपकारको स्वार्थके समान, परात्माओको स्वात्माके समान महत्त्व देना पड़ेगा, परोपकारको हमे एक स्वभाव बना लेना पड़ेगा । परोपकारके क्षेत्रमे सिर्फ मनुष्योंका ही नहीं, किन्तु पशु-पक्षी, कीट-पतंग तथा स्थावरोका भी समावेश होगा । जिसने परोपकारको

स्वार्थ समझा, समस्त प्राणि-जगत् जिसने परोपकारका क्षेत्र बनाया, वही निष्पाप और सुखी है ।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि मनुष्योके और पशु-पक्षियोके उपकारको हम अपना कर्तव्य या स्वार्थ समझे, यह ठीक है; परन्तु कीट-पतङ्गोका विचार क्यो करे ? उनसे हमे क्या लाभ हो सकता है ? हम उनका कितना ही उपकार क्यो न करे, वे उसका बदला हमे कभी नही दे सकते। इस प्रश्नके उत्तरमे तीन बाते कही जा सकती है——

(क) कीट-पतङ्गोमे मनुष्यो या पशु-पक्षियोके समान बुद्धि भले ही न हो, फिर भी उनमे इतना ज्ञान होता है कि वे सतानेवाले-को सतानेकी चेष्टा करे । बिच्छू वगैरह सतानेसे डक मारते है । विशेष बुद्धि न होनेसे उपकार-अनुपकारके कार्य वे अच्छी तरह न कर सके, यह दूसरी बात है; परन्तु उनमे भी ये भावनाएँ होती है और यथाशक्ति वे इन्हे कार्य रूपमे परिणत करनेकी चेष्टा भी करते है, यहाँ तक कि वृक्ष भी संतुष्ट और असतुष्ट होते है ।

(ख) अगर हम प्रत्युपकारकी निराशासे उनका खयाल न रक्खे, तो हमारी आत्मा धीरे धीरे इतनी स्वार्थी हो जायगी कि हमारे उपकारका क्षेत्र अत्यन्त सकुचित हो जायगा, और कालान्तरमे यह संकुचितता हमारे स्वार्थकी भी बाधक हो जायगी।

(ग) आत्मा अमर है, इसलिये अगर आज हम मनुष्य है तो सदा मनुष्य ही न बने रहेगे । कभी हमे कीट-पतंग पशु-पक्षी-वृक्ष आदि भी होना पड़ेगा । अगर आज हम प्रत्युपकारकी निराशा-से इन्हे सताते है, तो जब हमे कीट-पतंग वृक्ष आदि होना पड़ेगा, तो दूसरे लोग भी हमे सतायेगे । अगर हम इनपर दया रक्खेंगे,

तो हमे भी उस दयाका परिणाम कीट-पतंगके भवमे मिलेगा। मतलब यह है कि हर एक प्राणीको हर जगह जन्म लेना पड़ता है, इसलिये जितनी अधिक जगहमे सुखका विस्तार किया जाय, सुखी जीवन बितानेके लिये उतना ही अधिक क्षेत्र ससारमे तैयार होता है। इसलिये हमे अपने वर्तमान स्वार्थका ही विचार न करना चाहिये, बल्कि त्रैकालिक स्वार्थका विचार करना चाहिये। मान लो कि एक नगरमे सभी लोगोकी यह आदत हैं कि वे खिड़कीमे बैठकर सड़कपर थूका करते है। इससे पथिकोको कष्ट होता है। इसपर खिड़कीमे बैठनेवाले यह सोचें कि इसमे हमारा क्या जाता है, तो यह ठीक नही। क्योकि जो अभी मकानके ऊपर बैठा है वह सदा वही न बैठा रहेगा, उसे भी कभी पथिक बनना पड़ेगा। उस समय दूसरेका थूक उसके ऊपर गिरेगा। इस दु.खसे बचनेके लिये सबके ऊपर थूकनेकी आदत छोड़नी पड़ेगी। इसलिये विश्वके समस्त जीवोके विषयमे हमे इसी प्रकारका व्यवहार करना चाहिये। शक्तिशाली अगर निर्बलोको सताना छोड दे, तो जब शक्तिवाली निर्बल होगा, तब उसको इस नीतिका लाभ मिलेगा। इसलिये शक्तिशालीका परोपकार भी कालान्तरमे अपने स्वार्थके लिये हो जायगा।

यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि साधारण प्राणियोका पतन होता है, इसलिए वे परोपकारके झझटमे पड़े; परन्तु जो योगी है जीवन्मुक्त है, वे परोपकार क्यो करे? इस प्रश्नके उत्तरमे तीन बाते कहना है—

(१) जीवनन्मुक्त भी एक दिन साधारण व्यक्ति होते है।

उनके ऊपर भी समाजके द्वारा किये गये उपकारोका थोड़ा बहुत बोझ रहता है। उसके बदलेमे वे समाजोद्धार करते है। यदि ऐसे लोग समाजोद्धार न करे, तो आगेके लिए उस सस्थाका मार्ग रुद्ध हो जायगा, जिससे लोग जीवन्मुक्त होते है। मतलब यह कि कृतघ्नताके परिहारके लिए जीवन्मुक्तोको भी समाज-सेवा करनी चाहिये।

(२) जीवन्मुक्त हो जानेपर भी मनुष्य, समाजाश्रयका त्याग नही करता, इसलिए वह अपनी वर्तमान आवश्यकता-पूर्तिका बदला भी समाज-सेवाके द्वारा चुकाता है।

(३) जीवन्मुक्तमे राग-द्वेष आदि विकार नही रहते, परन्तु उनके मन-वचन-काय कुछ न कुछ कार्य करते है। इधर जीवन्मुक्तको किसी स्वार्थ-सिद्धिकी आवश्यकता नही है, इसलिए उसके मन-वचन-काय परोपकारके सिवाय और क्या कर सकते है ?

इस प्रकार चाहे जीवन्मुक्त हो, चाहे संसारी, सबको सुख-वृद्धिके लिए प्रयत्न करना चाहिये। और यह खयाल रखना चाहिये कि अगर हम दूसरेको सुखी बनानेका प्रयत्न न करेगे, तो हम सुखी नही हो सकते। परप्राणिकृत दुःखोको दूर करनेके लिए हमे इसी उदार नीतिसे काम लेना आवश्यक है।

जगत्कल्याणकी कसौटी

यहाँ तक यह बात सिद्ध हो चुकी है कि जगत्के कल्याणमे हमारा कल्याण है। परन्तु जगत्के कल्याणका निर्णय कैसे किया जाय, यह एक महान् प्रश्न है। यह बात तो सभी लोग समझते है कि अहिंसा आदिसे जगत्का कल्याण है, दान आदि शुभ कार्य है, परन्तु कभी

कभी युद्ध करना (हिंसा) भी आवश्यक होता है। दानकी अधिक प्रवृत्तिसे बेकारोकी सख्या बढ़ने लगती है। कभी कभी दो धर्मोका पालन अशक्य होता है। अगर सत्य बोलते है तो हिंसा होती है, अगर हिसाको बचाते है तो झूठ बोलना पड़ता है। इस अवसरपर क्या किया जाय ? कर्त्तव्याकर्त्तव्यका निर्णय कैसे किया जाय ?

बहुतसे लोग कर्त्तव्याकर्त्तव्यके निर्णयके लिये सदसद्विवेकबुद्धि या अन्तर्नादके अनुसार कार्य करनेकी बात कहते है। परन्तु यह आवाज़ ठीक ठीक रूपमे महापुरुषोको ही सुनाई देती है। परन्तु ऐसे मनुष्य इने-गिने होते है और कर्त्तव्याकर्त्तव्यके निर्णय करनेकी जरूरत तो सभीको होती है। दूसरी बात यह है कि अन्तर्नादके नामपर दंभकी सेवा होती है। पापीसे पापी—किन्तु बाते बनानेमे चतुर—व्यक्ति भी अन्तर्नादकी दुहाई देकर घोर दुष्कृत्य करते है, इसीलिये ऐसी कसौटी बनाना चाहिये जो तर्कपर कसी जा सके।

दूसरी बात यह है कि अन्तर्नाद आकस्मिक नही है। कर्त्तव्या-कर्त्तव्यके निर्णयके लिये हम जिन सिद्धान्तोको जीवनमे उतारते है, आत्मामे जिनका अनुभव होता रहता है उन्हीके अनुसार हमे अन्त-र्नाद सुनाई पडता है। जब उसका तात्कालिक कारण समझमे नही आता, तब वह अन्तर्नाद कहलाता है। सच पूछा जाय तो अन्तर्नाद एक ऐसा भीतरी तर्क है, जिसे हम शब्दोमे उतारकर दूसरोको नही समझा पाते। इसलिये अन्तर्नाद सुननेके लिये हमे उस सिद्धान्त-को जाननेकी आवश्यकता है जिसके अनुसार चलनेपर हमे अन्त-र्नाद सुनाई दे सके। इस सिद्धान्तके निर्णय किये बिना हम सदसद्वि-वेक-बुद्धिसे भी काम नही ले सकते।

बेन्थाम, मिल आदि पाश्चिमात्य विद्वानोने कर्त्तव्याकर्त्तव्यका निर्णय करनेके लिये "अधिकांश लोगोका अधिकतम सुख*" का नियम निश्चित किया है । कर्त्तव्याकर्त्तव्य-निर्णयको व्यावहारिक रूप देनेमे इससे अच्छी युक्ति दिखलाई नहीं देती । भारतवर्षके प्रत्येक धर्ममे इस नीतिको स्वीकार किया गया है । परन्तु इस नीतिका जो साधारण अर्थ किया जाता है, उसमे कुछ त्रुटि रह जाती है । इस त्रुटिको लोकमान्य तिलकने इन शब्दोमें रक्खा है—-

" इस आधिभौतिक नीति-तत्त्वमे जो बहुत बड़ा दोष है वह यही है कि इसमे कर्ताके मनके हेतु या भावका कुछ भी विचार नही किया जाता और यदि अन्तस्थ हेतुपर ध्यान दे, तो इस प्रतिज्ञासे विरोध खड़ा हो जाता है कि अधिकाश लोगोका अधिक सुख ही नीतिमत्ताकी कसौटी है ।. केवल बाह्य परिणामोका विचार करनेके लिये उससे बढ़कर दूसरा तत्त्व कहीं नही मिलेगा । परन्तु हमारा यह कथन है कि जब नीतिकी दृष्टिसे किसी बातको न्याय्य अथवा अन्याय्य कहना हो, तब केवल बाह्य परिणामोको देखनेसे काम नही चल सकता ।. ..पाडवोकी सात अक्षौहिणियॉ थी और कौरवोकी ग्यारह, इसलिये यदि पाडवोकी हार हुई होती, तो कौरवोको अधिक सुख हुआ होता । क्या उसी युक्तिवादसे पॉडवोका पक्ष अन्याय्य कहा जा सकता है ?....व्यवहारमे सभी लोग यह समझते है कि लाखो दुर्जनोको सुख होनेकी अपेक्षा एक ही सज्जनको जिससे सुख हो, वही सच्चा सत्कार्य है । "

भावकी प्रधानता सभी धर्मशास्त्रोमे बहुत अधिक परिमाणमे पाई

---

* "Greatest good of the greatest numbei"

जाती है । हिंसा हो जानेपर भी अगर हमारी भावना हिंसा करनेकी न हो, तो हमे हिंसाका दोष नही लगता और भाव होने पर हिंसा न होनेपर भी हिंसाका दोष लगता है । यह बात अहिंसाके विवेचनमे स्पष्ट की जायगी ।

अधिकांश लोगोके अधिकतम सुखवाली नीति व्यवहारमें अत्यन्त उपयोगी है, इसलिये हम उसका त्याग नहीं कर सकते । और भाव-विशुद्धिके विना आत्म-विश्वास नही हो सकता, न ठीक ठीक निर्णय ही हो सकता है; इसलिये हम भावको गौण स्थान भी नही दे सकते। इस समस्याके सुलझानेके लिये अधिकांश प्राणियोके अधिक-तम सुखवाली नीतिमे कुछ सशोधन आवश्यक है, उसके लिये हमे निम्नलिखित सूत्रोको स्वीकार करना चाहिये—

(क) अधिकतम लोगोका अधिकतम सुखमे 'लोग' शब्दका अर्थ प्राणी है । धर्मके सामने त्रिकाल त्रिलोककी समस्याएँ है, इस लिये इतना व्यापक अर्थ करना उचित है।

(ख) सभी जीवोका सुख समान नही होता। चैतन्यकी मात्रा बढ़नेसे सुखदु:खानुभवकी मात्रा बढ़ती है। द्वींद्रियादि जीवोमे वन-स्पतिकी अपेक्षा कई गुणा चैतन्य है । इनसे अधिक पशु-पक्षियोमे और इनसे अधिक मनुष्योमे। इनमे भी परस्पर तारतम्य देखना चाहिये । इस नीतिमे केवल सख्याका विचार नही करना है, सुखकी मात्राका भी विचार करना है ।

(ग) नीतिका निर्णय सार्वत्रिक और सार्वकालिक दृष्टिसे करना चाहिये । दस चोर एक आदमीको लूट ले, इससे दस चोरोको सुख

और एक ही आदमीको कष्ट होगा; परन्तु इस नीतिको हम अच्छा नही कह सकते। क्योकि चोरी करनेकी नीतिसे एक समय और एक जगह भले ही अधिक सुख हो परन्तु अन्य समयमे और अन्य क्षेत्रोमे दुःखकी वृद्धि बहुत अधिक होगी। जो सर्वत्र और सर्वकालमे अधिकतम प्राणियोको अधिकतम सुखकारक हो वही नीति ठीक है।

(घ) जो परोपकार परोपकार-बुद्धिसे न किया गया हो वह बहुत ही कम सुखवर्द्धक है। उसका श्रेय कर्त्ताको बहुत कम मिलता है।

एक आदमी यशके लिये परोपकार करता है। यह इस लिये ठीक नही है कि जब उसे यशकी आशा न होगी या यशकी चाह न होगी तब वह परोपकार न करेगा। यह सुख-वृद्धिमे बडा भारी बाधक है। उसका ध्येय यश है। इस लिये अगर यशके लिये कभी उसे अनुचित कार्य करनेकी आवश्यकता होगी तो वह अनुचित कार्य भी करेगा। इस प्रकार परोपकारका मूल्य तभी हो सकता है जब वह भावपूर्वक किया गया हो।

(ङ) अशुभ भावसे कोई कार्य किया जाय, और उसका फल शुभ हो जाय, तो वह अशुभ ही कहलायगा, इसी तरह शुभ भावसे कोई कार्य किया जाय किन्तु उसका फल अशुभ हो जाय तो वह शुभ ही कहलायगा। क्योकि भावना अच्छी होनेपर भी बुरा कार्य होना कादाचित्क है। सामान्य नियम यही है कि उससे शुभ कार्य हो, इस लिये शुभ भावना सुखवर्द्धक है। दूसरी बात यह है कि भावनाके अनुसार अगर अच्छे-बुरेका निर्णय न किया जाय, तो अच्छा काम करना अशक्यप्राय हो जायगा। अच्छी भावनासे डॉक्टर

ऑपरेशन करे और रोगी मर जाय, इसपर डाक्टरको खूनीके समान मृत्यु-दण्ड दिया जाय, तो कितने डॉक्टर ऑपरेशन करनेको तैयार होंगे ? इसलिए अधिकतम सुखके लिए भावनाको प्रधानता देना आवश्यक है ।

इस सबका सार यह है कि सार्वत्रिक और सार्वकालिक अधिकतम प्राणियोंके अधिकतम सुखकी भावनासे जो कार्य किया जाय वह कर्तव्य है और बाकी अकर्तव्य । इस तरह आधिभौतिक और आध्यात्मिकके सम्मिश्रणसे हमें कर्तव्याकर्तव्यके निर्णयकी कसौटी मिल जाती है; और अनेक तरहकी शंकाओंका समाधान हो जाता है । जैसे कि—रावणने सीताको चुराया, रामने युद्ध करके रावणके वंशका नाश कर दिया । अगर राम युद्ध न करते, तो राक्षस-वंशके लाखों मनुष्य मरनेसे बच जाते, सिर्फ राम और सीता इन दो व्यक्तियोंको दुःख होता और लाखोंको सुख ।

यद्यपि वर्तमानकी दृष्टिसे यह घटना विपरीत नीतिकी सूचक है, परन्तु सार्वत्रिक विचारसे इसका निर्णय हो जाता है । इस घटनाको लक्ष्य करके अगर यह नियम बना दिया जाय कि अगर कोई किसीकी पत्नीको चुरा ले जाय तो उसे उसकी रक्षाके लिये विशेष प्रयत्न न करना चाहिये, तो इसका फल यह होगा कि प्रतिदिन हजारों लाखों स्त्रियोंका सतीत्व नष्ट होने लगेगा । यह दुःख एक बार युद्धमें मर जानेवाले सैनिकोंके दुःखकी अपेक्षा बहुत अधिक होगा । मतलब यह कि अन्यायका प्रतिकार करना एक बार भले ही अधिक प्राणियोंको दुःखद हो, परन्तु सदाके लिये वह सुखद है । समाजके भय तथा चिन्ताको रोकनेके कारण उसकी सुखदता और बढ़ जाती है ।

सुखी बननेकी कला

इस नीतिको अगर हम पूर्णरूपसे काममे ला सके, तो बहुतसे दुःखोका अन्त आ सकता है; परन्तु पूर्णरूपसे इस नीतिका कार्यान्वित होना अशक्य है तथा अगर इस विषयमे हमे सफलता मिल भी जाय तो भी अन्य प्राकृतिक दुःख तो बने ही रहेगे। इन सब दु.खोको हम थोड़ा बहुत कम कर सकेगे, परन्तु बहु भाग बचा ही रहेगा। इसलिये हमे सुखी बननेकी कला सीखना चाहिये। अनेक मनुष्य ऐसे देखे जाते है कि जिनके पास अन्य मनुष्योकी अपेक्षा सुख-सामग्री अधिक होती है; फिर भी ईर्ष्या असतोप आदिके कारण वे दु खी रहते है और अनेक मनुष्य जरा-सी विपत्तिमें घबरा जाते है, रोते है, जब कि अनेक महापुरुप हँसते हँसते मरते है। इससे यह बात सिद्ध होती है कि जो लोग सुखी रहनेकी कला जानते है, वे हर हालतमे सुखी रहते है और जो इस कलाको नही जानते, वे हर हालतमे दुखी रहते है। धर्म हमे इसी कलाका शिक्षण देता है। इस शिक्षणकी कुछ बाते ये है—

जिस प्रकार हम किसी मकानमे भाड़ेसे रहते हो और वहाँपर हमे कोई विशेप कष्ट दे, हमारा अपमान करे, हमारी सम्पत्तिका अपहरण करे, तो हम उस मकानको छोड देते है, हम उस मकानकी पर्वाह नही करते। इसी प्रकार अगर हम शरीरकी भी पर्वाह न करे, शारीरिक जीवनसे आत्म-जीवनको महान् समझे, शरीरके लिये आत्माका नही किन्तु आत्माके लिये शरीरका वलिदान करना सीखे, मृत्युको गृहपरिवर्तन या वस्त्रपरिवर्तनके समान समझे, तो दुःखपूर्ण घटनाएँ हमे दुःखी न कर सकेगी या नाममात्रको दुखी कर सकेगी।

हमे यह निश्चित समझ लेना चाहिये कि हमारा किसीके ऊपर कुछ अधिकार नही है। जो जितनी सहायता करे वह उसकी सज्जनता है; अगर न करे तो हमे बुरा माननेकी कोई आवश्यकता नही है।

संसारका दुःख और सुख कुछ स्थिर नही है। वर्तमान विपत्ति आखिर नष्ट होगी ही। अगर यह इस जीवन-भर स्थिर भी रहे, तो भी अनन्त कालके सामने यह जीवन इतना छोटा है कि इसकी तुलना समुद्रके सामने एक कणसे भी नही की जा सकती।

नाटकके पात्रोकी महत्ता उनके पदपर स्थिर नही है, अर्थात् राजा बननेवाला उत्तम पात्र हो और रङ्क बननेवाला जघन्य पात्र हो यह बात नही है किन्तु, जिसको जो काम सौपा गया है, वह काम जो अच्छी तरहसे कलाके साथ कर सकता है वही अच्छा पात्र है। इसी प्रकार ससारमे अपने कर्त्तव्यको पूर्णरूपसे करनेवाला ही उत्तम है। धन, प्रभाव, यश आदिसे किसीकी उत्तमताका अनुमान लगाना ठीक नही है।

जिस प्रकार काँटोसे बचनेके लिये समस्त पृथ्वीतलपर चमड़ा नही बिछाया जा सकता, किन्तु पैरोके चारो तरफ चमड़ा लपेटा जाता है, अर्थात् जूते पहने जाते है, उसी प्रकार दुःखसे बचनेके लिये हम संसारकी अनिष्ट वस्तुओका नाश नही कर सकते, न उन्हे वश कर सकते है; किन्तु समताकी भावनासे अपनेको तदनुकूल कर सकते है।

इसलिये अगर हम दुखी न होनेका दृढ निश्चय कर ले, तो हमे कोई दुःखी नही कर सकता। ये सब तथा इसी तरहकी अन्यान्य

शिक्षाएँ दुख-सुखको हमारे अधीन कर सकती है । इस विषयमे रोगके समान हमे दो बातोपर विचार करना चाहिये—

रोगी मनुष्यके दो कर्त्तव्य होते है । एक रोगकी यथाशक्ति चिकित्सा करना और दूसरे सहनशक्तिसे काम लेना । ये ही दो कार्य दु:ख-रोगियोके लिये है—(१) संसारमे सुखकी वृद्धि करना । (२) सुखी माननेका दृढ निश्चय करना, अर्थात् सुखकी कला सीखना ।

शंका—मनुष्यको अगर इस प्रकार सुखी रहनेकी कला सिखाई जायगी, तो मनुष्य आलसी और कायर हो जायँगे । उनका संतोष उनकी पराधीनता या गुलामीका कारण हो जायगा जो कि परम्परासे धार्मिक, सामाजिक आदि हर तरहके पतनका कारण होगा ।

समाधान—सुखी रहनेकी कला और उसके साधन संतोष, उदासीनता, क्षमा, त्याग आदि गुणोसे कायरता आदि दुर्गुणोमे बहुत अन्तर है । हर एक गुणके पीछे गुणाभास लगा रहता है । जैसे अहिंसाके पीछे निर्बलता, क्षमाके पीछे कायरता, विनयके पीछे दीनता, आदि । उन गुणोसे इन गुणाभासोमे आकाश-पातालका अन्तर होता है । गुण जितने उपादेय है, गुणाभास उतने ही हेय है । ये गुण गुणाभास न बन जायँ, इसके लिये संसारमे सुखवृद्धि करनेकी पहिली बात हमे भूल न जाना चाहिये । और यह भी याद रखना चाहिये कि मन-वचन-कायकी क्रिया (योग) सदा होती ही रहती है । जब तक मृत्युका पल प्राप्त न हो जाय तब तक मन, वचन और काय कुछ न कुछ काम करते ही रहते है । जब काम होना अनिवार्य है तब सुख वृद्धि या दु:ख-हानिका काम होना चाहिये । इसलिये अपनी अपनी नीति और योग्यताके अनुसार प्रत्येक व्यक्तिको

सुखके साधनोको जुटाना और दु.खके साधनोको नष्ट करनेका कार्य करना आवश्यक है । सुखी रहनेकी कलाका यह मतलब नही है कि हम दुःखको दूर करनेका उपाय ही न करे; परन्तु हम एक दु.खको दूर करनेके लिए अन्य अनेक दुःखोको मोल न ले ले, इसके लिये सुखी रहनेकी कला सीखना चाहिए । बीमार होनेपर चिकित्सा करना आवश्यक है, परन्तु अगर कोई बीमारीके नामसे घबरा जाय, तो उसकी बीमारी कई गुणी दुखद हो जायगी और साथ ही वह चिकित्सा भी न कर सकेगा । इसलिये हर हालतमे समभावको स्थिर रखना, यही सुखी रहनेकी कला है । दुःखके आने पर हमे उसका सामना करना चाहिए । सामना करनेके लिये दो बाते आवश्यक है । एक तो दुःखको नष्ट करना और उसकी चोटोको सहन करना । जो आदमी शत्रुकी चोटोको नही सह सकता, वह शत्रुका नाश भी नही कर सकता । उसी प्रकार जो आदमी दुःखकी चोटोको नही सह सकता, अर्थात् दु.ख आनेपर सम-भावपर स्थिर नही रह सकता, वह दुःखको नही जीत सकता ।

लडाईमे कभी कभी ऐसा होता है कि जहॉ शत्रुका प्रवेश अधिक मात्रामे होता है वहॉसे अपना मोर्चा हटा लेना पडता है, जिससे शत्रुके गोले खाली जगहमे पडकर नष्ट हो जायॅ । इसी प्रकार कभी कभी ऐसे दु.ख आते है जिन्हे दूर करनेमे हमे अपने विनाशका, अर्थात् सम-भावके विनाशका खतरा रहता है । तब उन चोटोको हम शरीरपर पड़ने देते है, और शरीरका त्याग कर देते है, अर्थात् उससे ममत्व हटा लेते है । सुख शरीरका धर्म नही है, किन्तु आत्माका धर्म है, इसलिए शरीरके दु.खसे आत्मा दु'खी नही होता ।

जो लोग सुखी रहनेकी कलाके नामपर, आध्यात्मिक जीवनके नामपर, सन्तोप आदि गुणोंके नामपर, स्वयं गुलामी स्वीकार करते है और संसारमे दु:खकी वृद्धि होने देते है, वे इन सब गुणोसे कोसो दूर है।

जैसा कि मै पहिले कह चुका हूँ दु:खको जीतनेके लिए दो बाते है। या तो उसकी चोटको सहते हुए (समभाव रखकर दृढ़तासे आगे बढ़ते हुए) उसे नष्ट कर दो अथवा दु:खकी चोटोके स्थानको छोड दो। जिन लोगोमे समताभाव होता है, और जो शरीरमे भी नि:संग होते है, उनमे कायरता हो नही सकती, न वे गुलाम हो सकते है और न किसीको गुलाम होते देख सकते है। सुखी रहनेकी कला इसलिए नही है कि मनुष्य पशुकी तरह दुर्दशामे पड़ा रहे या अपनी सर्वतोमुखी दुर्दशा होने दे। इस कलासे मतलब है उस समभावका, जो घोरसे घोर विपत्तिमे भी निराशा और घबराहट नही होने देता; इस कलासे मतलब है उस वीर-रसका, जिससे मनुष्य विपत्तियोको उसी तरह देखे जिस तरह शिकारी शिकारको देखता है। विपत्तियोके सामने आत्मसमर्पण कर देना और गुलामी स्वीकार लेना इस कलाकी हत्या करना है।

साधारण अवस्थामे मनुष्य अगर स्वतन्त्रताके लिये या अन्य सुखके लिये प्रयत्न करता है किन्तु बीचमे उसे असफलता माल्म होती है या पराजय हो जाता है, तो घबरा जाता है, साहस छोड देता है, परन्तु जिसने सुखी रहनेकी कलाको जाना है वह हार करके भी नहीं हारेगा, नि:सहाय हो करके भी निराश न होगा। पराजय, निराशा आदि शब्द उसके कोपसे निकल जायँगे। समभाव आदि गुण, अकर्मण्यताके लिये नहीं किन्तु, अनन्तकर्मण्यताके लिये है।

शंका—यदि ऐसा है तो धर्म निवृत्ति या गृह-त्यागका ही मुख्य उपदेश क्यो देता है ?

समाधान—इसके उत्तरमे तीन बाते कही जा सकती है—

(क) जगत्कल्याणके लिये और आत्मकल्याणके लिये निवृत्ति आवश्यक है । जो मनुष्य परिमित स्वार्थोको लिये बैठा रहता है, वह जगत्कल्याणके लिये पूरी शक्ति नही लगा सकता । क्योकि जहॉ सपरिग्रहता है, वहॉ व्यक्तिगत कार्योका बड़ा भारी बोझ है । निष्परिग्रहके लिए यह बोझ नही है । वह घरमे रहे या बनमे रहे, परन्तु निष्परिग्रह होना चाहिए । निष्परिग्रहताका रूप सदा सर्वत्र एकसा नही होता । तथा निवृत्तिका अर्थ अकर्मण्यता नही है, किन्तु वैयक्तिक स्वार्थोके बन्धनोसे छूट जाना है ।

(ख) बहुतसे मनुष्य ऐसे है कि जो अनेक तरहकी तकलीफे बडी प्रसन्नतासे सह सकते है । परन्तु उन तकलीफोसे वे दूसरोकी नज़रोमे गिर जायॅगे, इसलिए उनसे बचनेके लिए निरन्तर आकुलित रहते है । मान लो मै प्रसन्नतासे रूखा-सूखा भोजन खा सकता हूॅ । परन्तु इससे मै कंजूस कहलाऊँगा, अथवा मेरे पास अच्छा भोजन करने लायक सम्पत्ति न होगी तो कंगाल कहलाऊँगा—इस अपमानसे बचनेके लिए आवश्यक न होनेपर भी मै बहुपरिग्रही बनता हूँ । इसके लिए दूसरेको मिलनेवाली सम्पत्ति मै हडप जाता हूॅ । इस तरह मेरा मानसिक कष्ट बढ़ता है और दूसरोके साम्पत्तिक कष्टमे सहायक होता हूॅ । परन्तु एक निष्परिग्रही साधु रूखा भोजन करनेसे अपमानित नही होता, इसलिये वह दूसरेके भागकी सम्पत्ति नही लेता ।

इस तरह वह स्वयं सुखी होता है और पर-कल्याण भी करता है। परिग्रहीकी अपेक्षा सच्चा निष्परिग्रही बहुत सुखी है।

(ग) पिछले जमानेमे आजकल सरीखे ज्ञान-प्रचारके साधन नही थे इससे, तथा पुस्तको वगैरहसे उपदेश तो मिलता है परन्तु उसमे सजीवता नही होती इससे, उस समय साधु-संस्थाको विशाल बनानेकी आवश्यकता थी। इसके अतिरिक्त उस समय अन्न इतना अधिक था कि विशाल साधु-सस्था भी लोगोको कोई कष्ट दिये बना निभ सकती थी। फिर इस बातका पूरा खयाल रक्खा जाता था कि कोई मनुष्य कुटुम्बियोकी इच्छाके विरुद्ध, उत्तरदायित्व छोड़कर, तो नही भाग रहा है।

शंका—धर्मका उद्देश्य अगर स्व-पर-कल्याण है, तो वह अनावश्यक कष्टोको निमन्त्रण देनेका विधान क्यो बताता है? बहुत दिनोतक भूखे रहना, ठण्ड गर्मीके कष्ट सहना, आदिमे न तो दूसरोको सुख मिलता है, न अपनेको सुख मिल सकता है।

समाधान—धर्मने ऐसे तपोको अन्तरंग तप नही किन्तु बाह्य तप कहा है। और इन बाह्य तपोका मूल्य तभी स्वीकार किया है, जब ये प्रसन्नतासे और निराकुलतासे किये जावे। सुख जितना ही स्वाधीन होगा उतना ही पूर्ण होगा। इसलिये पराश्रितताका त्याग करनेके लिये और सहनशक्तिको बढ़ानेके लिये इन तपोकी आवश्यकता है। हममे सहन-शक्ति जितनी अधिक होगी, दुःखके साथ हम उतना ही अधिक लड सकेगे। यदि सहन-शक्ति आवश्यक है, तो उसका ऊँचासे ऊँचा रिकार्ड किस किस दिशामे कितना हो सकता है, इसका प्रयत्न करना भी आवश्यक है। एक मनुष्य प्रति

घण्टे २०० मीलकी चालसे मोटरकार दौड़ाता है। यदि व्यवहारमे इतनी चालसे मोटरे दौड़ाई जाने लगे, तो प्रतिदिन हजारो मनुष्योको प्राण देना पड़े। फिर भी ऐसे रिकार्ड लानेवालोकी प्रशंसा होती है, क्योकि इससे मोटरकारकी गतिको उत्तेजना मिलती है। जिस दिशामे हमे जाना है उस दिशामे कितना आगे बढ़ा जा सकता है, इसका सक्रिय पाठ दुनियाको पढ़ाना बड़ा भारी काम है। दूसरी बात यह है कि ठण्ड, गर्मी, भूख, प्यास आदिके कष्ट मनुष्यको कभी न कभी सहना पड़ते है। उस समय हम अपनेको शान्त रख सके इसके लिये भी ये तप आवश्यक है। जो लोग पूजा करानेके लिये ऐसे तप करते है वे तपका फल नही पाते; तथा जो लोग यह नही समझते कि इन तपस्याओसे सुखकी स्थिरता बढ़ती है तथा प्रकृतिके विरुद्ध लड़नेकी शक्ति आती है, वे लोग भी तपका फल नही पाते। इन तपोको संयम समझनेवाले भी भूलमे है। ये तो सिर्फ संयमका अभ्यास करनेके लिये कसरतके समान है।

इससे भी अच्छा तप आत्मशुद्धि और सेवा है, जिसे कि अतरंग तप कहा है। धर्मके किसी एक ही अगपर ज़ोर देना, उस द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावका फल है। इसका यह मतलब नही है कि जिस अगपर बहुत दिनोतक ज़ोर दिया गया है, या जो रूप बहुत काल तक बना रहा है वही सब कुछ है। दूसरे अंग और दूसरे रूप भी है। उनका समयपर उपयोग करना भी आवश्यक है। यदि ऐसा न हो तो धर्म एकान्तधर्म और मिथ्याधर्म हो जाय, वह धर्म ही न रहे।

सार यह है कि धर्म सुखके लिये है। जो सुख बाह्य साधनोपर ही अवलम्बित है, वह पूर्ण सुख नही है। स्वार्थपूर्ण दृष्टि बनानेसे वह मिल नही सकता। अपने हिस्सेका बाह्य सुख-भोगका हमे अधिकार है। पूर्ण सुखी बननेके लिये सुखी बननेकी कला जानना चाहिए। गुणभासोसे बचना चाहिए।

धर्म-मीमांसाका उपाय

धर्मका उद्देश्य और उसकी विविधताका रहस्य समझ लेनेके बाद धर्मकी मीमासाका कार्य बहुत सरल हो जाता है। धर्म सुखका कारण होनेपर भी दु:खका कारण क्यो हो जाता है, कलह-वर्द्धक क्यो हो जाता है, आदि बातोको समझनेकी कुजी हाथमे आ जाती है। जगत्कल्याणकी जो कसौटी बताई गई है, उसको ध्यानमे न रखनेसे, धर्मके नामपर अहकारकी पूजा करनेसे, कल्याणकारी धर्म अकल्याणकारी बन जाता है। इसलिए धर्मसे लाभ उठानेके लिए हमे निम्नलिखित उपायोकी योजना करना चाहिये—

१—हम सर्व-धर्म-समभावी बने। अगर हमारा किसी धर्म-सस्थासे ज्यादा सपर्क है, तो हम भले ही उस सस्थाका अधिक उपयोग करे और आत्मीयता प्रकट करे; परन्तु दूसरी धर्म-संस्थाओको अपनी धर्म-सस्थाके समान पवित्र माने। उनसे लाभ उठानेका मौका मिलनेपर उनसे लाभ भी उठावे। ये सभी धर्म-संस्थाएँ मनुष्य-समाजको उन्नत बनानेके लिए थीं। उनकी रीति-नीतिमे अगर अन्तर मालूम होता है, तो उस अन्तरसे उन्हे भला-बुरा न समझे; किन्तु उसको देश-कालका असर समझे। करीब सवा हजार वर्ष पहिले अरबके लोगोकी उन्नतिके लिए इस्लामने जो नियम बनाये,

यदि वे आज किसी देशके लिए निरुपयोगी है, तो इसीसे इस्लामको बुरा न समझे। हम इतना ही कहे कि यह नियम आजके लिए उपयोगी नही है, इसलिए दूर कर देना चाहिये; परन्तु अपने समयके लिए अच्छा था। इसी उदारतासे हमे वैदिक, जैन, बौद्ध, ईसाई, पारसी, आदि धर्मोपर विचार करना चाहिये। हम उनकी आलोचना करे; परन्तु पूर्ण निष्पक्षतासे आलोचना करे। उनमेसे वैज्ञानिक सत्यको खोज ले, बाकीको वर्तमान कालकी दृष्टिसे निरुपयोगी कहकर छोड़ दे। परन्तु इससे उस धर्मका निरादर न करे। जिस सम्प्रदायको हमने अपना सम्प्रदाय बना रक्खा है, उसकी आलोचना करते समय हमारे हृदयमे जितनी भक्ति रहती है, वही भक्ति हम दूसरे सम्प्रदायोकी आलोचना करते समय रक्खे। अपने सम्प्रदायके दोषोपर तो हम नजर ही न डाले, और दूसरे सम्प्रदायके दोष ही दोष देखे, यह बड़ीसे बडी भूल है। इससे हम किसी भी धर्मके अनुयायी नही कहला सकते—धर्मका लाभ हमे नही मिल सकता।

२—जो कार्य सार्वत्रिक और सार्वकालिक दृष्टिसे अधिकतम प्राणियोके अधिकतम सुखका कारण है, उसे ही धर्म समझे। इसके विरुद्ध कोई भी कार्य क्यो न हो,—भले ही बड़ेसे बड़ा महापुरुष या बड़ेसे बड़ा आगम ग्रथ उसका समर्थन करता हो, परन्तु उसे हम धार्मिक न समझे। हमारे प्रत्येक कार्यमे यह उद्देश्य जरूर रहे। इस सिद्धान्तको हम अपने जीवनमे उतारनेकी कोशिश करे।

३—उपर्युक्त सिद्धान्तके अनुसार सभी सम्प्रदायोमे कुछ न कुछ हितकर तत्त्व रहते है। हम उन्हीको मुख्यता देनेकी कोशिश करे,

जिससे सब सम्प्रदायोमे तथा उनके अनुयायिवर्गोमे आदर और प्रेम बढ़े और सबके जुदे जुदे संगठनके बदले सबका एक संगठन बने। हिन्दूधर्मका कर्मयोग, जैनधर्मकी अहिंसा और तप, बौद्धधर्मकी दया, ईसाईधर्मकी सेवा, इस्लामका भ्रातृत्व, ये सब चीजे सभीके लिये उपयोगी है। अन्य सम्प्रदायोमे भी अनेक भलाइयॉ मिलेगी। इन्हीको मुख्यता देकर अगर हम विचार करे, तो सब धर्मोसे हमे प्रेम भी होगा, आपसका द्वेष भी नष्ट होगा, तथा सबका एक सगठन भी बन सकेगा। इसके लिये हमे जहॉतक बन सके सभी सम्प्रदायोके धर्मस्थानोका उपयोग करना चाहिये। अपने सम्प्रदायोके मदिरोमे भी अन्य सम्प्रदायोके महात्माओके स्मारक रखना चाहिये। सभी सम्प्रदायोके महात्माओके स्मारक जहॉ बराबरीसे रह सके, ऐसे स्थान बनाना चाहिये। इस प्रकार सर्व-धर्म-समभावको व्यावहारिक रूप देने और उसे जीवनमे उतारनेकी पूरी कोशिश करना चाहिये।

४—बहुत-सी ऐसी बाते है जो एक समय अच्छी थी, उपयोगी थी, क्षन्तव्य थी, इसलिये शास्त्रोमे या रूढ़िमे स्थान पा गई है, परन्तु आज वे उपयोगी नही है, इसलिये उन्हे हटा देना चाहिये। सिर्फ इसी बातको लेकर कि वे हमारे शास्त्रोमे लिखी है, या पुरानी है, उन्हे चालू रखना अन्याय है। जो सर्व-धर्म-समभावी है, वह किसी एक धर्मशास्त्रकी दुहाई देकर किसी अनुचित बातका समर्थन क्यो करेगा? एक सम्प्रदायके शास्त्रमे किसी बातका विधान हो सकता है और दूसरे सम्प्रदायके शास्त्रमे उसका निषेध हो सकता है, तब सर्व-धर्म-समभावीके सामने एक जटिल प्रश्न खड़ा हो जाता है कि वह किसकी बात माने? ऐसी हालतमे उसे यही देखना चाहिये कि कल्याण

किसमे है ? अगर कोई बात सभी शास्त्रोंमे एकसी मिलती है अथवा उनमे जितने मत हो वे सभी वर्तमानमे हितकारी न हो, तो उन सबको छोड़कर उसे कल्याणकारी बात पकड़ना चाहिये । जैसे वर्तमानमे संकुचित जातीयता, स्त्रियोंके पुनर्विवाहका निषेध, पर्दाकी अधिकता, छूताछूतका अनुचित विचार, भूत-पिशाच आदिकी मान्यता, अविश्वसनीय अतिशय, आदि बहुतसे अहितकर तत्त्व आगये है, जो कि प्रगतिके नाशक तथा ईर्ष्या और दुरभिमानको बढ़ानेवाले है । इन सब कुतत्त्वोको हटाकर विवेकी बनना चाहिये । एक जैन कहे कि महावीरके जन्म समय इन्द्रादि देवता पूजा करने आये थे, बौद्ध कहे कि बुद्धके जन्म समय ब्रह्मा-विष्णु-महेश मौजूद थे, वैष्णव कहे कि रामके जन्मसमय शिव इन्द्र आदि अयोध्याकी गलियोके चक्कर काटते थे, तो ये सब बाते अन्ध-विश्वास और मूढताके चिह्न है । इनसे विज्ञानकी हत्या होती है, समभाव नष्ट होता है, ईर्ष्या और दुरभिमान बढ़ता है । हमे धर्मको अधिकसे अधिक विज्ञानसंगत बनाना चाहिये और इसी बुनियादपर धर्म तथा समाजका नव-निर्माण या जीर्णोद्धार करना चाहिये ।

५—आज मानव-समाज कई तरहके भेदोमे बँटा हुआ है । साम्प्रदायिक भेद तो है ही, साथ ही और भी अनेक तरहके वर्ग बना लिये गये है और इस प्रकार वर्गयुद्ध चालू हो गया है । मनुष्य अपना पेट भरके सन्तुष्ट हो जाता तो गनीमत थी; परन्तु वह इतनेमे सन्तुष्ट नही होता, वह यह कोशिश करता है कि हमारी जातिके सब मनुष्योका पेट भरे और हम सब संगठित होकर दूसरोको लूटे। इसीलिये एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रको पीस डालना चाहता है । लाखो-

करोड़ो मनुष्य दूसरे देशपर शासक बनकर मौज करना चाहते है। दूसरे जातिके अच्छेसे अच्छे सदाचारी त्यागी गुणी विश्वसनीय व्यक्तिसे उतनी आत्मीयता प्रकट नही करना चाहते जितनी कि अपने वर्गके पतितसे पतित व्यक्तिके साथ करना चाहते है। इस राष्ट्रीय जाति-भेदसे आज दुनियाकी राजनीति-अर्थनीति भयंकर ताडव कर रही है और उससे मनुष्य-जाति त्राहि त्राहि पुकार रही है। जरूरत इस बातकी है कि मनुष्य-जाति एक ही मान ली जाय जैसी कि वह है। शासनकी सुविधाके लिये राष्ट्रीय भेद रहे, परन्तु एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रपर पशु-बलसे तथा और किसी ढंगसे आक्रमण न करे। अगर किसी देशमे मनुष्य-संख्या ज्याद: है, तो कम संख्यावाले देशमे जाकर वे इस शर्तपर बस जायँ कि अपनेको हर तरह उसी देशका बना लेगे, वहाँकी भाषा आदिको अपना लेंगे। उन देशोपर आक्रमण करके, उन्हे दलित करके अपने वर्गका पोषण करना मनुष्यताका नाश करना है। इससे संसारमे शान्ति नहीं हो सकती। इस नीतिसे कोई चैनसे नही बैठ सकेगा और बारी बारीसे सबको पिसना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त एक राष्ट्रके भीतर भी अनेक तरहके वर्ग बने हुए है। जैसे भारतवर्षमे हिन्दू-मुसलमानोमे जाति-भेद और सम्प्रदाय-भेदसे घोर संग्राम छिड़ा रहता है। इसके अतिरिक्त हिन्दू समाजमे ही करीब चार हजार जातियाँ है, जिनमे परस्पर रोटी-बेटी व्यवहार नही, इससे पारस्परिक सहयोगका लाभ नही मिल पाता है। पड़ोसमे रहते हुए भी न रहनेके बराबर कष्ट उठाना पड़ता है। ये वर्ग-भेद भी ईर्ष्या और दुरभिमानके बढ़ानेवाले है। इन सब

भेदोको तोड़ देनेकी जरूरत है। हॉ, जीवनमे मित्र-वर्ग या सम्बन्धी-वर्ग बनानेकी जरूरत होती है, सो जहॉ चाहेसे बनाना चाहिये। अमुक वर्गमेसे ही चुनाव कर सके, यह भेद न होना चाहिये। इस प्रकार जब हममे सर्व-जाति-समभाव आ जायगा, तो हममेसे वर्ग-युद्धके तथा ईर्ष्या और दुरभिमानके बहुतसे कारण नष्ट हो जायँगे, तथा हमे प्रगतिके लिये तथा सुविधापूर्वक जीवन बितानेके लिये बहुतसे साधन मिल जायँगे। इसलिये हमे अपने दिलमेसे जाति-उपजातिका मोह निकाल देना चाहिये, जातीय और साम्प्रदायिक विशेषाधिकारोकी मॉग छोड़ देना चाहिये, जातिके नामपर रोटी-बेटी-व्यवहारका विरोध न करना चाहिये। इस प्रकार सर्व-धर्म-समभावीके समान सर्व-जाति-समभावी भी बनना चाहिये।

६—सर्व-जाति-समभावकी तरह नर-नारी-समभाव भी अत्याव-श्यक है। यह सर्व-जाति-समभावका एक अग है। नर-नारीकी शारीरिक विषमता है, परन्तु वह विषमता ऐसी है जैसी कि एक शरीरके दो अंगोमे होती है। नर-नारी एक दूसरेके लिये पूरक हैं। इस-लिये एक दूसरेकी उन्नतिमे एक दूसरेको बाधक नही होना चाहिये और जहॉ तक बन सके अधिकारोमे समानता होना चाहिये। अनेक स्थानोपर स्त्रीकी अवस्था गुलाम सरीखी है। उसके आर्थिक अधि-कार पूरी तरह छिने हुए है। फूटी कौड़ीपर भी उसका स्वामित्व नही है। यह दुःपरिस्थिति जाना चाहिये। जहाँ तक बन सके, स्त्री-पुरुषोमे आर्थिक समताका प्रचार होना चाहिये। अगर विषमता रहे भी, तो वह कमसे कम हो। सामाजिक अधिकारोमें भी विषमता न होना चाहिये। स्त्री सिर्फ इसीलिये किसी कार्यसे वञ्चित न हो सके

कि वह स्त्री है। धार्मिक अधिकारोमे तो विषमताका कोई मतलब नही है। फिर भी पुरुषने धार्मिक क्रिया-कांडोमे नारीके अधिकार छीने है। उससे पुरुषको कोई लाभ भी नही हुआ। इसलिये यह विषमता भी दूर करनी चाहिये। इस प्रकार सर्वजाति-समभावके समान नर-नारी-समभावकी भी जरूरत है।

इस प्रकार यदि हम सर्व-धर्म-समभाव, सर्व-जाति-समभाव, विवेक या समाज-सुधारकता, निःस्वार्थता आदि गुणोको लेकर धर्मकी मीमांसा करेंगे, तो सच्चे धर्मको प्राप्त कर सकेंगे। उस धर्मको जीवनमे उतारनेसे हमारा भी कल्याण होगा और जगतका भी कल्याण होगा।

धर्म और सत्यसमाज

अभीतक धर्मके विषयमे जो कुछ कहा गया है वह केवल विचार-के लिये ही नही है किन्तु आचारके लिये है। उस धर्मको जीवनमे उतारनेके लिये अनेक कठिनाइयाँ हैं। उनमे सबसे जबर्दस्त कठि-नाई है समाजका कोप। ज्यो ही आपने अपने वर्ग या समाजके बाहर रोटी-बेटी-व्यवहार किया कि समाजने आपके सिरपर बहिष्कारका दंड बरसाया। अगर आप आर्थिक दृष्टिसे स्वतंत्र भी है तो भी समाजकी आवश्यकता आपको है ही। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। सामाजिकता उसके स्वभावमे ही नही है किन्तु उसके जीवनकी वह आवश्यकता भी है। और नही तो अपनी सन्तानके विवाहके लिये तो उसे समाजकी आवश्यकता है ही। एक बार आपने जहाँ समाजके बाहर पैर बढ़ाया कि समाजने आपका बहिष्कार किया। इसी प्रकार जहाँ आपने दूसरे धर्मोके मन्दिरोमे जाना शुरू किया, दूसरोकी

थोड़ी प्रशंसा की और अपने सम्प्रदायका कोई वास्तविक दोष भी बतलाया कि समाजने बहिष्कार, निन्दा आदि शस्त्रोंका प्रयोग किया। मतलब यह कि समाज-सुधार और धर्म-सुधारको जीवनमें उतारनेके लिये वर्तमान समाजोंसे हमें आशा नहीं है और बिना समाजके हम यह कार्य कर नहीं सकते। इसलिये यह उचित मालूम होता है कि एक ऐसे समाजकी स्थापना की जाय, जिसमें ये सब विचार कार्यान्वित किये जा सकें। जिसमें सामाजिक भय तो हो ही नहीं, किन्तु इन कार्योंके लिये उत्तेजनाके साधन हों; बस इसी पूर्तिके लिये यह सत्यसमाज है। इस विषयमें अनेक प्रश्न उठ सकते हैं, परन्तु उनका समाधान करनेके पहले यह उचित मालूम होता है कि सत्यसमाजका रूप बतला दिया जाय, पीछे उस विषयमें उठने वाले प्रश्नोंका उत्तर दिया जाय।

सत्यसमाज-संघटना

उद्देश्य

१–(क) किसी भी सम्प्रदायकी निन्दा न करते हुए निष्पक्ष दृष्टिसे उसकी आलोचना करके वैज्ञानिक सत्यकी खोज करना।

(ख) सार्वत्रिक और सार्वकालिक दृष्टिसे अधिकतम प्राणियोंके अधिकतम सुखके लिये सत्यकी खोज करके उसे जीवनमें उतारना।

(ग) सम्प्रदायोंके सत्य और हितकर तत्त्वोंको मुख्यता देकर सब सम्प्रदायोंमें परस्पर प्रेम और आदर बढ़ाना तथा उनका समन्वय करके सबका एक संगठन करना।

(घ) शास्त्र, रूढ़ि और संकुचिततासे समाजमें जो अहितकर

तत्त्व आ गये है उनको नष्ट करके न्यायोचित और व्यवहार्य नियमोंके आधारपर समाजका नव-निर्माण या जीर्णोद्धार करना ।

(ङ) मनुष्य-मात्रमे यथासम्भव समताका प्रचार करते हुए, हानिकारक भेदोंको तोड़कर मनुष्योंको कल्याणके मार्गमे आगे बढ़ाना ।

शाखाएँ

२- सत्यसमाजके सदस्य दो तरहके होगे; नैष्ठिक और पाक्षिक ।

(क) जो लोग अपने सम्प्रदाय या समाजमे रहना नहीं चाहते, या किसी कारणसे रह नहीं सकते, वे लोग वहाँसे सम्बन्ध तोड़कर इस समाजके नैष्ठिक सदस्य कहलॉयगे । उनकी जाति होगी ' सत्य-समाज ' और धर्म होगा ' सत्यसमाज ' । इस श्रेणीमे किसी भी देश, किसी भी जाति और किसी भी धर्मका व्यक्ति समानताका दर्जा प्राप्त कर सकेगा ।

(ख) जो लोग अपने सम्प्रदायका त्याग नहीं करना चाहेगे किन्तु सत्यसमाजके उद्देश्य और नियमोंका पालन करेगे, वे पाक्षिक सदस्य कहलायॅगे । सत्यसमाजद्वारा प्रदर्शित सत्यको वे अपने साम्प्र-दायिक शब्दोंमे समझेगे और उसे जीवनमे उतारेगे ।

(ग) जो लोग नैष्ठिक या पाक्षिक न बन सकेगे किन्तु सत्य-समाजके समर्थक और सहायक होंगे, वे अनुमोदक कहलायॅगे ।

३—पाक्षिक श्रेणीके सदस्य वैदिक, जैन, बौद्ध, ईसाई, मुसलमान आदि शाखाओंमे विभक्त रहेगे; परन्तु निष्पक्षता और सत्यसेवकता सबमे एक-सी होगी । एक शाखावाला दूसरी शाखावालेका विरोध न करेगा । एक दूसरेको धर्मबन्धु भी समझेगा । आवश्यकता होनेपर एक दूसरेके धर्म-स्थानोंमे भी जायगा ।

४—सत्यसमाजी यद्यपि सभी धर्म-स्थानोको पवित्रता तथा आदरकी दृष्टिसे देखेगा, फिर भी सत्यसमाजके आदर्शको बतलानेवाले स्वतंत्र मंदिर भी होगे। नैष्ठिक मंदिरमे भगवान् 'सत्य' और भगवती 'अहिंसा'की रूपकमय मूर्ति या चित्र होगा। उसके आसपास यथायोग्य स्थानपर राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, ईसा आदिकी मूर्तियाँ या चित्र होगे।

पाक्षिक सत्यसमाजके मंदिरमे, जिस शाखाका वह मंदिर होगा, उसके मान्य व्यक्तिकी मूर्ति या चित्र मूलनायक (मुख्य मूर्ति) के स्थानपर होगा, अन्य महापुरुषोकी मूर्तियाँ या चित्र आसपासमे यथास्थान होगे।

५—सत्यसमाजकी नीति जातीय और साम्प्रदायिक विशेषाधिकारोके विरोधमे होगी।

शिक्षा-नियम

६—जिसके हृदयमे जाति उपजातिका मोह न रह गया हो तथा जिसमे सर्वधर्म-समभावकी भावना हो, वही भाई या बहिन सत्यसमाजका नैष्ठिक या पाक्षिक सदस्य बने।

[निष्पक्ष आलोचनाओसे सर्वधर्म-समभावकी हानि न समझी जायगी, इसी प्रकार न्यायकी रक्षाके लिये जातीय प्रश्नोमे हाथ डालना जाति-उपजातिका मोह न समझा जायगा।]

७—धर्म-शास्त्रोकी दुहाई देकर कल्याणकारी तत्त्वका या वैज्ञानिक सत्यका विरोध न करना चाहिये।

८—सत्यसमाजीको वेषका पूजक न होना चाहिये। कोई मनुष्य गृहस्थ-वेषमे हो या किसी भी प्रकारके साधु-वेषमे हो उसका, गुण

और समाज-सेवाके अनुसार ही आदर करना चाहिये। वेषको देखकर ही किसीको साधु, पूज्य आदि न मान लेना चाहिये। और साधु-वेषके अभावसे ही उसका कम आदर न करना चाहिये। वेष तो सिर्फ किसी धर्म-संस्थाके सदस्य होनेकी निशानी है, पूज्यापूज्यताका उससे कोई सम्बन्ध नही है।

९.–नैष्ठिक सदस्यको चाहिये कि वह सत्यसमाजके अन्य किसी भी नैष्ठिक सदस्यके साथ सिर्फ जाति-भेदकी दुहाई देकर रोटी-बेटी-व्यवहारका विरोध न करे। पाक्षिक सदस्य भी कमसे कम अपनी शाखाके पाक्षिक सदस्यके साथ इसी उदार नीतिसे काम ले।

१०–नैष्ठिक सदस्य पाक्षिक सदस्योंके साथ, तथा पाक्षिक सदस्य अपनी शाखासे भिन्न शाखाके सदस्योंके साथ, यथासम्भव उपर्युक्त (९ वे नियमकी) उदार नीतिसे काम ले। स्वय अन्तर्जातीय-विवाहको कार्यरूपमे परिणत करे तथा इस प्रकारके विवाहोमे बाधा कदापि न डाले।

११–सत्यसमाजीको जाति-पाँतिके नामपर सहभोजका विरोध कही भी न करना चाहिये। (भोजनकी अत्यधिक विषमतासे सहभोज न करे, तो बात दूसरी है।)

१२–दोनो प्रकारके सदस्य स्त्री और पुरुषोके अधिकारोमे समानताके तत्त्वको माने। अपनी अपनी योग्यता, प्रकृति और सुविधाके अनुसार कार्य-क्षेत्रका विभाग करनेमे कोई आपत्ति नही है। धर्मकार्यो और धर्मस्थानोमे भी स्त्रीका स्थान छोटा न माना जाय। दायभाग आदिके मामलोमे पाक्षिक सदस्य अपनी परिस्थितिके अनुसार यथा-शक्ति समानताका परिचय दे। नैष्ठिक सदस्य सत्यसमाजद्वारा निश्चित नियमोका पालन करे।

१३–सदस्य बन जानेके बाद सदस्योचित कर्तव्य करनेमे कुटु-म्बियोकी दुहाई देकर बहाना न बनाना चाहिये। जब तक ऐसी बाधा दूर न हो जाय तबतक सत्यसमाजका अनुमोदक ही बनना चाहिये।

व्यवस्थापक नियम

१४–कमसे कम १८ वर्षकी उम्रवाला कोई भी व्यक्ति सत्यस-माजका सदस्य बन सकेगा।

१५–स्त्री और पुरुष दोनो ही अलग अलग सदस्य बन सकेगे, अर्थात् दोनोका व्यक्तित्व अलग अलग समझा जायगा।

१६–जहाँपर पाक्षिक और नैष्ठिक—दोनो मिलाकर पाँच सदस्य होगे, वहाँ एक ग्राम-शाखा खोली जायगी।

१७–जिस प्रान्तमे १० ग्राम-शाखाएँ हो जायँगी, वहाँ प्रान्तिक शाखा खोली जायगी।

१८–जहाँ ग्राम-शाखा न होगी, वहाँके सदस्य प्रकीर्णक सदस्य कहलायँगे।

शंका-समाधान

अब मै यहाँ सत्यसमाजके विषयमे पैदा हुई शकाओका समाधान कर देना उचित समझता हूँ जिससे सत्यसमाजका ठीक ठीक रूप ध्यानमे आजाय।

शंका—(१)–सत्यसमाजकी आवश्यकता ही क्या है ? सिर्फ विचारोमे क्रान्ति करनेका काम ही क्यो न किया जाय ?

समाधान—विचार-क्रान्ति आवश्यक अवश्य है, परन्तु विचार-क्रान्ति साध्य नही, साधन है। विचार-क्रान्ति अगर कार्य रूपमे परि-णत न हो पावे, तो उसका होना न होना बराबर है। आज

हमारे यहाँ समाजमे हजारो नही लाखोकी संख्यामे ऐसे लोग है जिनके विचार अच्छी तरह बदल गये है, परन्तु एक-फीसदी व्यक्ति भी कार्य-क्षेत्रमे आगे नही आ पाते; क्योंकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, इसलिये उसे समाजकी आवश्यकता तो है ही। अब अगर कोई सुधारके कार्यमे आगे बढ़ता है तो पचायते या समाजे उसे अलग कर देती है। वह अपनी समाजका त्याग तो कर सकता है परन्तु समाजरहित होकर नही रह सकता; उसे कोई न कोई समाज अवश्य चाहिये। आज सभी समाजे सकुचित है। जो लोग सर्वधर्म-समभाव रखना चाहते है तथा भिन्न भिन्न तरहके समाज-सुधारके कार्य करना चाहते है, उनका वर्तमान समाजमे रहना कठिन है, अथवा वे किसी तरह रह भी सके तो उनको सदा भय लगा रहता है। इसलिये एक ऐसी समाजकी आवश्यकता है जहाँ कोई भी सर्वधर्म-समभावी समाज-सुधारक निराकुलतासे रह सके, अथवा अपनी अपनी समाजमे रहते हुए भी वह इस स्वतन्त्र समाजकी आशासे निराकुल रह सके। अगर इस समाजकी स्थापना न की जाय, तो ऐसे लोग या तो अपने सकुचित क्षेत्रमे पड़े-पड़े जीवन बिता देगे या बहिष्कृत होकर कष्टमय और पश्चात्तापमय जीवन बिताते रहेगे। ऐसी हालतमे दूसरोंकी हिम्मत आगे बढनेकी नही होगी। इसके अतिरिक्त बहुतसे सुधार-कार्य ऐसे है जो स्वतन्त्र वायुमण्डलमे ही शीघ्रतासे हो सकते है। एक हिन्दू स्त्री लाख शिक्षा देनेपर भी अपनी वेष-भूषा, भाषा, स्वच्छता आदिमे परिवर्तन नही कर पाती, किन्तु ईसाई होते ही बिना किसी सकोचके वह सैकड़ो परिवर्तन कर डालती है। समाज-परिवर्तनसे उसका पुनर्जन्म सा हो जाता है। इसलिये

ऐसे लोग जो कि अपनी समाजमे रहते हुए छोटी बड़ी क्रान्तियाँ नही कर सकते, वे सत्यसमाजके स्वतन्त्र वातावरणमे आते ही बड़ी सरलतासे कर सकेगे। इधर उन्हे सत्यसमाजके अन्य सदस्योका पीठ-बल मिलेगा, उधर पुराने समाजवाले छेड़छाड़ करना भी छोड़ देगे। हॉ, जो लोग अपनी समाजमे रहते हुए भी सर्वधर्म-समभाव आदिका परिचय दे सकते है, वे वही रहकर काम करे। परन्तु जिनके लिये समाजमे जगह नही है अथवा जो समाजसे घृणा करने लगे है, उनके लिये तो कोई स्वतन्त्र स्थान देना ही होगा। वह स्थान सत्यसमाजका होगा।

शंका—(२)-जिस प्रकार वर्तमानके समाज है, क्या उसी प्रकार सत्यसमाज भी न हो जायगा ? क्या इसमे भी कट्टरता न आ जायगी ? आर्यसमाज वगैरह आखिर कट्टर सम्प्रदाय ही तो बन गये ?

समाधान—आर्यसमाज स्वतन्त्र सम्प्रदाय भले ही बन गया हो, परन्तु जिस उद्देश्यको लेकर आर्यसमाज खड़ा हुआ था उसकी छाप उसने समस्त हिंदू समाजपर मार दी है और अमुक अंशमे उसने नव-जीवनका सञ्चार कर दिया है। इसलिये आर्यसमाज नामक सम्प्रदाय बननेसे जितनी हानि हुई है, उससे अधिक लाभ उससे होनेवाली जागृतिसे हुआ है। इस प्रकारका भय अगर रक्खा जाय तब तो कोई सुधार नही किया जा सकता; क्योकि विजातीय-विवाहसे भी कालान्तरमे एक नयी जाति पैदा होनेकी सम्भावना है, इसी प्रकार विधवा-विवाहसे भी। छोटे छोटे सुधारोसे भी दलबन्दियॉ हो जाती है और वे स्थायीरूप भी पकड़ लेती है, इसलिये अगर सम्प्रदाय बननेकी सम्भावना भी हो, तो भी हमे सिर्फ इसी बातका खयाल रखना चाहिये कि उससे लाभ अधिक है या हानि। सत्यसमाजकी स्थाप-

नामे आर्यसमाजके समान कट्टरताका बीज भी नही है। आर्यसमाजको परिस्थितिसे विवश होकर सब सम्प्रदायोका उग्ररूपमे खण्डन करना पड़ा था, परन्तु सत्यसमाज प्रारम्भसे ही सभीके समन्वयपर ज़ोर देता है, और विचार-स्वातन्त्र्यका पोषक है। इसलिये एक आस्तिक भी सत्यसमाजी हो सकता है और एक नास्तिक भी सत्यसमाजी हो सकता है। सत्यसमाजमे समानाधिकार रखनेवाली पाक्षिक श्रेणी भी है, जिसमे हरएक धर्मके व्यक्ति होगे। उनका अस्तित्व भी सत्यसमाजको कट्टर बननेसे रोकेगा। इतनी सतर्कता रखनेपर भी अगर कभी सत्यसमाज विकृत होकर कट्टर बनेगा भी, तो उसपर किसीका क्या वश है? अन्तमे इस प्रकारकी विकृति तो किसी भी सुधार या क्रान्तिमे होती है। तब उसमे क्रान्ति करनेके लिये नये सुधारककी आवश्यकता होती है। इस प्रकार क्रांति-चक्र अनन्त है। हमारा काम है कि हम अधिकसे अधिक सतर्कता रक्खे। सत्यसमाजमे जितनी उदारता रक्खी गई है, उतनी उदारता दूसरी जगह न मिलेगी। अगर वह कभी विकृत भी होगी, तो विकृत होनेके पहिले समाजकी इतनी सेवा कर जायगी जिसके साम्हने विकृतिका दोष किसी गिनतीमे न होगा। हमे अपनी वर्तमान समस्या हल करना चाहिये, भविष्यकी समस्या भविष्यके सुधारक हल करेगे।

शंका—(३)—सत्यसमाज अगर एक अलग संस्था बन जायगी, तो उसमे आनेके लिये या उससे लाभ उठानेके लिये अपनी जाति और सम्प्रदायसे संबंध तोड़ना पडेगा, परन्तु यह बहुत कठिन है। बहुतसे सुधारक सुधार करना चाहते है परतु अपने समाजमे सम्बन्ध-विच्छेद नही करना चाहते। आप उनको खो देगे और इने-गिने लोग ही आपका साथ दे सकेगे।

समाधान—सत्यसमाजमे पाक्षिक श्रेणी इसीलिये है कि किसीको अपने समाजसे सम्बन्ध-विच्छेद न करना पडे; यहाँ तक कि जो लोग सत्यसमाजके सिद्धान्तोको कार्यरूपमे जरा भी परिणत नही कर सकते, किन्तु सत्यसमाजके विचारोको पसन्द करते है, अनुमोदक रूपमे वे भी सत्यसमाजमे शामिल हो सकते है। यो तो छोटासे छोटा सुधार भी कुछ त्याग और साहस माँगता है। विजातीय-विवाह करनेमे जितने त्याग और साहसकी जरूरत है, उससे अधिक त्याग सत्यसमाजकी सदस्यता नही माँगती; और अनुमोदक बननेके लिये तो इतने त्यागकी भी आवश्यकता नही है। जो लोग सर्वधर्म-समभावका समर्थन कर सकते है और विजातीय-विवाह, विधवा-विवाहके आन्दोलनमे भाग ले सकते है, जो अछूतोद्धारके पक्षपाती है, वे तो अगर सत्यसमाजके नैष्ठिक सदस्य भी बने, तो भी उन्हे कुछ अधिक त्याग न करना पडेगा, न अधिक सकट झेलना पडेगा। अगर पाक्षिक सदस्य बने, तब तो उन्हे और भी अधिक सुभीता है। अगर आपके लिये सत्यसमाजका सदस्य बननेपर भी अपनी समाजमे स्थान है तो आप पाक्षिक सदस्य बनिये, अगर अपनी समाजमे स्थान नही है तो नैष्ठिक सदस्य बनिये। मै पाठकोसे पूछना चाहता हूँ कि विजातीय विवाह, विधवा-विवाह, अछूतोद्धार, अन्धश्रद्धाके विषयोसे रहित सर्वधर्म-समभावरूप विचार केवल विचारके लिये है कि कार्यरूपमे परिणत करनेके लिये? बोलनेके लिये बोलना और विचार करनेके लिये करना, तो सुधारकता नही है। इस तरह तो हम अनन्तकाल तक वास्तविक सुधार न कर सकेगे और विश्वमात्रकी या मनुष्यमात्रकी सेवा करनेकी बात तो दूर, परन्तु अपने देशकी भी सेवा न कर

पायँगे। यदि आपका बोलना सिर्फ बोलनेके लिये और विचार सिर्फ विचारके लिये नहीं है, यदि आप उनको थोड़ी-बहुत मात्रामे कार्यमे परिणत भी करना चाहते है, तो बतलाइये किस तरह करेगे? इसके लिये आपको आज नहीं तो कल, सहयोगियोकी आवश्यकता तो अवश्य होगी, परन्तु उन सहयोगियोको प्राप्त करनेका आपके पास उपाय क्या है? उन सहयोगियोको एक जगह एकत्रित किये बिना कैसे समझेगे कि हमे ऐसे सहयोगी मिल गये है जो मौकेपर काम आयँगे? जब तक आपके पास इस प्रकारके मूर्त्तिमंत सहयोगी न होगे, तब तक दूसरोंको किस बलपर भरोसा दे सकेगे? आज नहीं तो कल इसके लिये आपको एक न एक दल आवश्यक होगा ही, फिर उसे आप सत्यसमाजके नामसे पुकारिये या और किसी नामसे। आपके सामने दोनो रास्ते खुले है। आप अपनी समाजमे रहकर भी काम-कर सकते है और अलग होकर भी। अपनी रुचि और परिस्थितिके अनुसार आपको जो मार्ग पसन्द हो, उसीसे आप कार्यक्षेत्रमे आइये। प्रारम्भमे इनेगिने लोग ही साथ देगे, परन्तु अभी तो वे इनेगिने ही कहाँ है? अभी तो हमारे पास एक भी नहीं है जिसपर सहयोगका भरोसा रखकर हम कुछ भी कार्य कर सके। बात बनानेवाले सैकड़ोकी अपेक्षा कार्यरूपमे सहायता देनेवाले इने-गिने भी बहुत अच्छे है। अभी तक जितने आन्दोलन किये गये, सबमे प्रारम्भमे इने-गिने ही मिले है। सत्यसमाजमे अगर उसमे भी कम आवे, तो भी कार्य-कारी होनेसे हम लाभमे ही रहेगे। अगर हम इने-गिने ही हिम्मतसे काम ले, तो यह निश्चित है कि थोडे ही दिनोमे काफी सख्यामे हम हो जायँगे। बडीसे बड़ी नदियोके स्रोत उद्गमस्थानपर गाँवकी नालीके बराबर भी नही होते। उनको देखकर महानदीकी कल्पना

करना भी कठिन होता है। थोड़ी देरको मान लो कि हम इनेगिने ही रहे, तो भी आजकी अपेक्षा टोटेमे न रहेगे। इस मुट्ठीभर कार्यसे पहाड़ बराबर विचार-क्रान्ति होगी। इसके लिये अगर हमारा बलिदान ही हुआ तो भी वह व्यर्थ न जायगा, वह भविष्यकी सन्तानके लिये पथप्रदर्शक और सहायक होगा। हम एक कदम आगे और बढ़े कि समाज भी–अगर हमारा साथ न भी दे तो भी वर्तमान अवस्थासे एक कदम आगे अवश्य बढ़ेगी। यही क्या कम है? इस विषयमे बुरीसे बुरी सम्भावना जो की जा सकती है, उसको देखते हुए भी हम नुकसानमे नही रहेगे। परन्तु मुझे तो आशा है कि अगर हम थोड़ीसी भी हिम्मत दिखलाएँगे, तो ये बुरी सम्भावनाएँ पास न फटकने पावेगी।

शंका—(४) सत्यसमाजका क्षेत्र भारतीय धर्मौतक ही सीमित रहे तो ठीक है।

समाधान—जिस उदार दृष्टिसे हम भारतमे पैदा होनेवाले धर्मोका समन्वय करेगे, वह उदार दृष्टि अभारतीय धर्मोका भी अवश्य समन्वय करेगी, अन्यथा वह नष्ट हो जायगी। वैष्णव, शैव, शाक्त या जैन, बौद्ध आदि भारतीय संप्रदायोका समन्वय करनेमे ऐसी क्या बात रह जायगी जिससे हम क्रिश्चियानिटी और इसलामका समन्वय न कर सके? सत्यसमाजका उद्देश कट्टर जातीयता, कट्टर राष्ट्रीयता, और कट्टर साम्प्रदायिकताको नष्ट करके सबमे उदारताका सचार करके मनुष्यको एक जातीय बनाना है। 'भारतीय' की शर्त लगानेसे हम सत्यसे वंचित तो होते ही है, साथ ही कट्टरताको भी फैलाते है या कायम रखते है। जिस प्रकार समाज-हितके लिये भारतीय धर्म

पैदा हुए है, उसी प्रकार भारतके बाहरके धर्म भी पैदा हुए है। जिस प्रकार भारतके धर्मोमे भलाइयाँ है, उसी प्रकार बाहरके धर्मोमे भी है। जिस प्रकार भारतके धर्मोमे विकार आ गये है, उसी प्रकार बाहरके धर्मोमे भी विकार आ गये है। दोनोके ही विकार दूर किये जा सकते है और उनमेसे सत्य ढूँढ़ा जा सकता है। इस लिये सैद्धान्तिक दृष्टिसे तो सीमाका सकोच नही किया जा सकता। अब रही व्यावहारिक बात। व्यवहारमे शायद यही कठिनाई कही जा सकेगी कि मुसलमान और ईसाई इस तरफ ध्यान न देगे तथा उनका नाम पड़ा होनेसे हिन्दू भी चौककर किनाराकसी करेगे। नियम बनाते समय ही यह कठिनाई मेरे ध्यानमे आई थी। परन्तु यह कठिनाई होनेपर भी हमे इसको जीतनेका प्रयत्न करना ही होगा। भारतीय दृष्टिसे भी अगर विचार किया जाय, तो भी हमे इसी दिशामे चलना होगा। हम सैकड़ो वर्ष तक हिन्दू-सगठन करते रहे, तो भी हम भारतमे एक जातीयता पैदा नही कर सकते। न हिन्दू मुसलमानोको पचा सकते है, न मुसलमान सब हिन्दुओको। सगठनसे हम इस द्वन्द्वको बढ़ा सकते है और इसका लाभ तीसरेको पहुँचा सकते है। इस लिये हमे उसी नीतिसे काम लेना चाहिये जो कई हजार वर्ष पहिले काममे लाई गई थी और जिसमे आशातीत सफलता मिली है। विष्णु शिव, आदि आर्य-अनार्य देवी-देवताओका समन्वय करके हिन्दू धर्मके नामपर जब एक उदार धर्म बन गया तब कही थोड़ी बहुत शान्ति हुई। इसी प्रकार अब भी हमे इनके साथ महावीर, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद आदिको मिलाकर एक ऐसा उदार धर्म बनाना पड़ेगा जिसमें सब समा सके। तभी भारतके हिन्दू मुसलमानोकी समस्या हल

होगी, तथा दुनियाको बन्धुत्वका पाठ पढ़ाया जा सकेगा। इस प्रकार व्यावहारिक दृष्टिसे भी इस उदारताकी आवश्यकता है। सत्यसमाजका प्रचार होनेपर दूसरे लोग भी इससे लाभ उठावेंगे।

एक जैनबन्धुने एक यह शंका की है—

शंका (५)—आज विविध सम्प्रदायोकी आवश्यकता नही है, इसलिए सब सम्प्रदायोका जैनमे समन्वय क्यो न किया जाय और जैनधर्मको सर्वोपरि धर्म मानकर उसीके अन्तर्गत सब धर्मोको क्यो न शामिल कर दिया जाय ? एक और नया सम्प्रदाय बनाकर फूटकी वृद्धि करनेसे क्या फायदा ? इससे सफलता भी न मिलेगी। जैन शब्दमे साम्प्रदायिकता भी नही है।

समाधान—मै मानता हूँ कि कि जैन धर्मके अन्तर्गत अन्य धर्म हो सकते है, परन्तु यह भी मानता हूँ कि अन्य किसी भी धर्मके अन्तर्गत अन्यधर्म हो सकते है। क्योकि धर्मका सार भाग सबमे है। इसीलिए तो सत्य-समाजका कहना है कि अपने अपने धर्मका पालन करते हुए मनुष्य पूर्ण आत्मविकास कर सकता है। इसलिये जिनको जैनधर्ममे रहना है वे जैनधर्मके सहारे ही आत्मविकास करे और दुनियाके अन्य धर्मोको जैनधर्म समझे। दूसरे लोग जैनधर्मको इसी तरह अपनॉयगे। यहॉ तक कोई हानि नही है। परन्तु अगर हम साम्प्रदायिक मोहमे पड़कर सब धर्मोके सिरपर अपना धर्म लादना चाहेगे, तो यह निरर्थक तथा समभावका विघातक होगा।

अगर हम यह बतलाना चाहते है कि हममे साम्प्रदायिक मोह नही है और दूसरोसे भी हम ऐसी आशा रक्खे, उनसे ऐसा अनुरोध भी करे, तब हमे किसी ऐसे नामकी दुहाई न देना चाहिये जो किसी

सम्प्रदायसे सम्बन्ध रखता हो। ‘जिन’ या ‘जैन’ शब्दका व्युत्पत्त्यर्थ कुछ भी हो परन्तु आज तो वह एक साम्प्रदायिक संस्थाका द्योतक बना हुआ है। यो तो दूसरे नाम भी जिन या जैन सरीखे अच्छे अर्थवाले ही है—बुद्धका अर्थ ज्ञानी है, वेद भी ज्ञानार्थक है, इस्लामका अर्थ आप्तवाक्यका पालन है। परन्तु क्या जैन, इस्लामके, वेदके या बुद्धके नीचे मिल जानेको तैयार है? यदि नही, तो हम यह कैसे आशा करे कि दूसरे लोग जैनके नीचे आनेको तैयार हो जायँगे? सब सम्प्रदायोंको मिलानेके लिये किसी एक सम्प्रदायके नामको अपनाना हास्यास्पद प्रयत्न है। जब हम जैनधर्मको सर्वोपरि मानकर उसके नीचे सब धर्मोको लाना चाहते है तब यह प्रयत्न साम्प्रदायिक कट्टरताको दूर करनेके लिये नही, किन्तु एक नया द्वन्द्व खड़ा करनेके लिये हो जाता है। इसके लिये तो हमे एक ऐसे नामको ही अपनाना पडेगा जिससे लोगोका द्वेष न हो, सभी सम्प्रदायोमे जो सन्मानित हो और जिसके प्रयोगसे किसीको अपने सम्प्रदायके जय या पराजयका अनुभव न हो। सत्य शब्द इसके लिये सर्वोत्तम है। यदि सत्य नामका कोई सम्प्रदाय होता, तो मुझे इस नामका भी त्याग करना पड़ता।

सत्यसमाज भी भविष्यमे विकृत हो जायगा, परन्तु इसीसे वह अनावश्यक नही है। जो मनुष्य पैदा हो रहा है वह एक दिन बीमार होगा और मरेगा, इसीलिये उसका पैदा होना बन्द नही किया जा सकता। जो मकान बन रहा है वह एक दिन जीर्ण होगा और गिरेगा, इसीलिये उसका बनाना बन्द नही किया जा सकता। आज जैसे हम जीर्ण मकानके स्थानपर नया मकान बना रहे है,

कल जब यह जीर्ण होगा तब दूसरा कोई इसके स्थानपर नया मकान बनायगा। इस प्रकार सुधारकों और क्रान्तिकारकोंकी परम्परा तो चालू ही रहेगी। कल फिर भूख लगेगी, इसीलिये आजका खाना बन्द नही किया जा सकता।

आपका यह वाक्य बड़ा ही सुन्दर है कि 'आज विविध सम्प्रदायोंकी आवश्यकता ही नही है। सभीको किसी रूपमे एक हो जाना चाहिये।' परन्तु जिस किसी रूपमे एक बनेंगे, वह रूप इन सम्प्रदायोंके रूपसे व्यापक और कुछ भिन्न तो अवश्य होगा। तब उस नये रूपका नया नाम भी होगा। जहाँ नया रूप है वहाँ नया नाम भी है। अगर आपने उसे कुछ भी नाम नहीं दिया, तो भी नया रूप, उदार धर्म, आदि किसी शब्दसे प्रगट तो करेंगे। तब '*नया रूप*' *यह भी एक नाम होगा*। '*उदार धर्म*' *यह भी एक* नाम होगा। इस प्रकार जो चीज किसी न किसी रूपमे गले पड़नेवाली है, उसको हम सँभालकर विवेकपूर्वक ही स्वीकार क्यों न करें?

सत्यसमाज नया सम्प्रदाय बन रहा है कि नहीं, अथवा फूटकी वृद्धि कर रहा है कि नहीं, यह तो भविष्य बतलायगा। परन्तु अपने सामने एक महान सफलता मौजूद है जिससे हम बहुत कुछ शिक्षा ले सकते है। वह सफलता है हिन्दूधर्मकी। आज हिन्दूधर्म एक धर्मके समान बना हुआ है, परन्तु मूलमे यह बात नहीं थी। वैष्णव, शैव और शाक्त ये मूलमे उतने ही जुदे जुदे धर्म है जितने कि आज वैदिक और इस्लाम है। परन्तु धीरे धीरे इन सबका इतना अच्छा समन्वय कर दिया गया कि वैष्णव-शैवका भेद रहनेपर भी

आज एक वैष्णव शिव-मन्दिरपर आक्रमण नही करता, न शैव विष्णु-मन्दिरपर आक्रमण करता है। बल्कि एक दूसरेके लिये पर्याप्त सम्मान भी है। यहाँ तक कि पशु-बलिको महान् पाप समझनेवाले वैष्णव भी कालीकी निन्दा न करेगे। इस उदारताने इस अन्तःकलहको नामशेष कर दिया है। अन्यथा एक दिन ये हिन्दू भी मुसलमानोकी तरह लड़ते थे। निःसन्देह हिन्दुओकी मुसलमानो, ईसाइयो, बौद्धो और जैनोके साथ प्रतिद्वन्द्विता है; परन्तु जितनेके समन्वय करनेका उन्होने प्रयत्न किया उतनेका समन्वय तो हुआ। उनका विरोध समन्वयकी सीमाके बाहर हुआ। इसी प्रकार सत्यसमाज कुछ कदम आगे बढ़कर जैन, बौद्ध, इस्लाम, ईसाई आदि धर्मोके साथ हिन्दूधर्मको मिलाकर एक व्यापक रूप देना चाहता है। तब हिन्दूधर्मके समान इसको भी सफलता मिले, तो यह कोई अनहोनी बात नही है। यह माना कि इतना बड़ा विशाल कार्य मुझ सरीखे तुच्छ व्यक्ति न कर सकेगे, परन्तु यह काम भी तो मुझ अकेलेका नहीं है। मै तो इस कामके लिए लोगोको निमन्त्रण देता फिरता हूँ। सब मिलकर इस कामको करेगे। सम्भव है इसके लिये, भविष्यमे कोई महात्मा आवे तो उसके मार्गके असंख्य पत्थरोमेसे अगर हमने थोड़े बहुत साफ कर दिये, मार्ग-सूचनके कुछ निशान बना दिये, तो क्या बुरा है? जो कार्य अच्छा है उसके लिये हमे यथाशक्ति प्रयत्न अवश्य करना चाहिये।

इस प्रकार जो काम हिन्दू धर्मने विविध धर्मोको मिलाकर किया, वही कार्य सत्यसमाजको सब धर्मोको मिलाकर करना है। जिस प्रकार हिन्दू समाजने शक हूण आदिको पचाया है, उसी तरहकी

पाचनशक्ति सब धर्मोमे पैदा करके जातीय तथा प्रान्तीय आदि दीवालोको तोड़कर मनुष्यताकी पूजा करनी है। हम अपने सम्प्रदायमे दुनियाके सम्प्रदायोको मिलाकर और अपनी जातिमे दुनियाकी जातियोको मिलाकर एकता करना चाहे, तो यह नही हो सकता। अगर हम अपनी आँखोंमे धूल न झोंकना चाहे तो हमे यह जान लेना चाहिये कि इस विचारमे एकता, उदारता, समताकी मनोवृत्ति नही किन्तु दिग्विजयकी क्रूर मनोवृत्ति छुपी हुई है। अपने अपने जातीय और साम्प्रदायिक झंडेके नीचे दुनियाको बुलाने और खींच लानेका प्रयत्न तो सदासे होता आ रहा है। यह उदारता नहीं किन्तु वह रोग है जिसे हम दूर करना चाहते है। यदि मुट्ठीभर जैनी अपने झंडेके नीचे सबको पकड़ लानेकी मनोभावना रखते है, यद्यपि आज उनकी पाचन-शक्ति अत्यन्त क्षीण हो गई है, तो करोड़ो मुसलमानोका यही दावा क्यो न हो? कमसे कम वे सबको अपनेमे पचा तो सकते है। बस, यही तो झगड़ेकी जड़ है। यहींसे तू तू मै मै शुरू होती है। हम समताकी दुहाई देते रणचंडीकी पूजा करने लगते है। ईश्वरका नाम लेकर शैतानको अर्घ चढ़ाते है और उसके इशारेपर नाचते है।

सत्यसमाज ऐसी जातीय और साम्प्रदायिक वासनाओको कुचल देना चाहता है। वह सभी सम्प्रदायोका आदर करते हुए भी किसी एक सम्प्रदायकी वकालत नहीं करना चाहता, न किसी एक सम्प्रदायको दूसरेके सिरपर बिठलाना चाहता है। वह सूक्ष्मसे सूक्ष्म मोहपर अपनी कठोर दृष्टि रखना चाहता है। यहीं इसकी उपयोगिता है।

शङ्का (६)—नैष्ठिक सदस्यकी व्याख्या करते हुए यह दिग्दर्शित किया गया है कि 'जो लोग अपने सम्प्रदाय या समाजमे रहना नही चाहते या किसी कारणसे रह नही सकते, वे लोग वहाँसे सम्बन्ध तोड़कर इस समाजके नैष्ठिक सदस्य कहलायँगे।" समाजके त्यागका क्या अर्थ है ? क्या ओसवाल ओसवाल न रहेगा ? खण्डेलवाल खण्डेलवाल न रहेगा ? हॉ, वह जाति-पाँतिका पक्षपाती न होगा, न उसमे उसे आनन्द प्राप्त होगा, न एक ही जातिको—जिसमे उसका जन्म हुआ है—उसे महत्त्व देगा। लेकिन उस जातिमे तो उसकी गणना होगी न ?

समाधान—अगर किसीको ओसवाल आदिका पक्षपात नही है, उसमे आनन्द नही है, उसको वह महत्त्व भी नही देता, और दूसरी किसी भी जातिके साथ बेटी—व्यवहार करनेको तैयार है, तब उसका ओसवाल कहलाना विशेष महत्त्व नहीं रखता। एक मनुष्य साधु बन जानेपर ओसवाल कहलाता है, परन्तु वह स्वयं ओसवाल कहलानेकी कोशिश नहीं करता। दूसरे लोग उसे ओसवाल भले ही समझा करे। इस बातको मै अपने ऊपर ही घटा-कर स्पष्टीकरण कर देता हूॅ।

कई लोग परवार समझकर मेरी प्रशंसा करते है, परन्तु मै तुरन्त कह देता हूँ कि मै अब अपनेको परवार-समाजका सदस्य नहीं समझता। अगर मुझे परवार-सभा एक सदस्यकी हैसियतसे निमन्त्रण दे, तो मै उसे स्वीकार न करूॅ। हाँ, किसी सलाहकारकी हैसियतसे या और किसी सेवाके लिये बुलावे, तो एक सेवकके रूपमे जाना आपत्तिजनक नही है। क्योकि मै ऐसी सेवकता किसी दूसरी जातिकी

भी स्वीकार कर सकता हूँ। अगर परवार-सभाका कोई आदमी मर्दुमशुमारी करने आवे, तो मै उससे पूछूँगा कि तुम परवार जातिमे पैदा होनेवालोके नाम लिख रहे हो या परवार जातिके सदस्योके ? पहिली हैसियतसे तुम मेरा नाम लिख सकते हो; दूसरीसे नही। अगर कोई ऐसी संस्था हो जिसमे परवार-जातिके सिवाय दूसरी जातिका आदमी मेम्बर न बन सकता हो, तो मै उसमे अपना नाम न जोडूँगा। अभी एक भाईका मुझे पत्र मिला जो कि मेरी स्तुतिसे रँगा हुआ था। इस तरहके कई पत्र मिलनेपर मुझे माॡम हुआ कि मै परवार हूँ इसलिये यह आकर्षण है; तब मैने उसे लिखा कि तुम यह आकर्षण बन्द कर दो। अगर तुम मुझे सत्यभक्त या समाज-सेवक समझकर चाहते हो तो ठीक, नही तो आकर्षण वापिस ले लेना चाहिये। नैष्ठिक सदस्य किस तरह अपनी जातीयताका त्याग करे, इसके ये थोड़ेसे नमूने है।

परन्तु इस सङ्कुचित जातीयताका त्याग करनेपर भी कौटुम्बिक सम्बन्ध और नातेदारीसे सम्बन्ध नही टूटता। नैष्ठिक सदस्य हो जानेपर भी उसके भाई-भतीजे, बहिन-बहिनोई, साले-ससुर आदि ज्यो-के त्यो बने रहेगे। हाँ, वे लोग अगर इस तरहका सम्बन्ध न रखना चाहे तो बात दूसरी है। मेरा ध्येय इतना है कि कुटुम्ब और मनुष्यताके बीचमे जाति-पाँतिका जो निरर्थक पचड़ा पड़ा हुआ है वह नष्ट हो जाना चाहिये।

कोई पूछ सकता है कि जब हम ओसवाल ही न रहे, तब उसके सदस्योके साथ हमारा सम्बन्ध कैसे रहेगा ? बस, इसी भ्रमको नष्ट करनेकी ज़रूरत है। हमे इन भेदोको बिलकुल नाजायज़ ठहरा

देना है और कहना है कि हमारी तुम्हारी नातेदारी ओसवाल परवार आदिकी हैसियतसे नही किन्तु एक मनुष्यकी हैसियतसे है।

एक हिन्दू जब मुसलमान हो जाता है, उस समय वह अपनी हिन्दू जातिकी टुकड़ीको भूल जाता है। उसी तरह सत्यसमाजी (नैष्ठिक) को भी भूल जाना चाहिये। हाँ, भूतपूर्व प्रज्ञापन नयकी अपेक्षासे आवश्यकता होनेपर वह अपनी ओसवालताका जिकर कर सकता है। परन्तु मुसलमान होकर भूलनेमे और सत्यसमाजी होकर भूलनेमे थोड़ा अन्तर है। वह यही कि उसमें कौटुम्बिक सम्बन्ध भी विच्छिन्न कर देना पड़ता है; जब कि यहाँ नहीं होता। पुरानी समाजसे उसे द्वेष हो जाता है; जब कि यहाँ प्रेम और उचित सहयोग बना रहता है।

हाँ, मान लो कि ओसवाल जातिने यह नियम बना लिया कि वह किसी भी जातिके साथ सम्बन्ध करनेको तैयार है और निर्विरोध ऐसे सम्बन्ध होने भी है, तो ऐसी अवस्थामे ओसवाल आदि 'सरनेम' की तरह अपनाये जा सकते है। जैसे आगरकर, पुणेकर, नांदूरकर, बेलनकर आदि सरनेम है, उसी तरह ओसवाल भी बने। वास्तवमे ओसवाल यह 'सरनेम' ही है। मराठीमे जिस अर्थमे 'कर' लगाया जाता है उसी अर्थमे हिन्दीमे 'वाला' या "वाल" लगाया जाता है। 'ओसिया-वाल' जो कि पीछेसे 'ओसवाल' हो गया, वास्तवमे 'ओसियाकर' की तरह सरनेम है। आज फिर उसको अपने उसी मूलरूपमें ले जाना चाहिये।

एक प्रश्न यह भी होगा कि इन जातियोको सरनेम बनानेके लिये अपनेको उनका सदस्य क्यो न रक्खा जाय? बस, यहाँ पाक्षिक और

नैष्ठिकका भेद स्पष्ट होता है। यह काम पाक्षिकका है, नैष्ठिकका नहीं। नैष्ठिक बाहर रहकर ऐसी शक्ति तैयार करता है जिससे उस सङ्कुचित जातीयताका ध्वंस हो जाय। पाक्षिक भीतर रहकर यही काम करता है। जब तक ओसवाल आदि जातियाँ 'सरनेम' की तरह न मानी जाने लगे और उनका रूप भी ऐसा न बन जाय तब तक नैष्ठिक सदस्यको उनका सरनेमकी तरह भी उपयोग न करना चाहिये।

शङ्का (७)—नैष्ठिक सभासदके लिये स्वसमाज तथा स्वसम्प्रदायके त्यागकी आवश्यकता क्यो प्रतीत होती है ? उसकी पूर्ण निष्ठा सत्य और अहिंसापर हुई कि काम बना। क्या अपनी जातिमे या अपने सम्प्रदायमे रहकर मनुष्य, सत्यसमाजके सब नियमोंका (नैष्ठिकशाखाका) यथोचित पालन न कर सकेगा ?

समाधान—जब हम समझते है कि जातिके नामपर चलती हुई ये टुकड़ियाँ नाजायज है, तब भी जो उनका सूक्ष्म मोह भीतर बैठा है उसे पूर्ण नष्ट करनेके लिये नैष्ठिक सदस्य आवश्यक है। और इसकी व्यावहारिक उपयोगिता तो और भी अधिक है। मान लो सत्यसमाजमे नैष्ठिक भेद नहीं है, सभी पाक्षिक सरीखे है। अब एक आदमी ऐसा है जो जातिसे अलग कर दिया गया है। तब क्या वह ओसवाल पाक्षिक या परवार पाक्षिक बन सकता है ? फिर वह ओसवाल बने कि परवार, यह कठिनाई तो है ही। साथ ही अगर उसे इन टुकड़ियोमे शामिल होना पसन्द न हो और न वह वैष्णव शैव आदि बनना चाहता हो तो वह कहाँ जाय ? मान लो कोई व्यभिचारजात हो—पंढरपुर सरीखे किसी आश्रममे जन्मा हुआ

बालक हो, या किसी घूरेपर पड़ा हुआ मिला हो—परन्तु हिन्दू ऋषियोकी तरह ज्ञानी बन गया हो, बलवान् हो गया हो और वह सत्यसमाजका सदस्य बने तो उसे, किस समाजकी शाखाके आगे नाक रगड़ना चाहिये जिससे वे उसे अपनेमे मिला ले ? नैष्ठिक सदस्य न रहनेसे सत्य समाजका केन्द्र ही नष्ट हो जायगा। वहाँ साधारण स्थान ही न रह जायगा। जातिमदका बीज ज्योका त्यों सुरक्षित रह जायगा। इतना ही नहीं, बल्कि पाक्षिकोका बल टूट जायगा। अभी तो एक पाक्षिक सत्यसमाजके नियमोका पूर्ण पालन करता है और उसे बल रहता है कि अगर मेरी जातिने और मेरे सम्प्रदायने मेरा बहिष्कार किया तो मै नैष्ठिक बन जाऊँगा। इस बलसे समाजमे निर्भय होकर काम कर सकता है। परन्तु नैष्ठिक शाखा न होनेसे उसे यह बल न मिलेगा। वैष्णवसे निकलकर शैव या जैन बनना, ओसवालसे निकल कर परवार या अग्रवाल बनना बहुत कठिन है तथा अनुचित भी है।

यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि यदि ऐसा है तो जो लोग इस प्रकार बहिष्कृत है, व्यभिचारजात है, या अनार्य आदि श्रेणियोंके है, वे सब मिलकर अपना एक सामान्य वर्ग बना ले, परन्तु जो ऐसे नही है वे नैष्ठिक क्यो बने ?

ऐसा करनेपर सत्यसमाजके दो भेद तो हो ही गये। सिर्फ नाममें स्वर व्यञ्जनका अन्तर हुआ। 'नैष्ठिक'की जगह 'सामान्य वर्ग' या ऐसा ही कोई नाम रक्खा गया। परन्तु इससे ऐसी भयङ्कर हानि होगी जो सत्यसमाजकी जड़मे कुठाराघात करेगी। वह सामान्यवर्ग बहिष्कृतो और पतितोका कहलाने लगेगा, और जातिमदका नंगा नाच होने लगेगा। साथ ही, नैष्ठिक सदस्य सत्यसमाजका पालन तो करेंगे

पाक्षिकोसे अधिक ही, परन्तु उनका स्थान होगा नीचा। यह घोर अन्याय होगा। इसलिये नैष्ठिकोमे ऐसे लोगोको पहिले ही आगे आना चाहिये जो बहिष्कृत नही हैं, व्यभिचारजात नहीं है, अनार्य आदि श्रेणियोके नही है। उनके आनेसे नैष्ठिक श्रेणी गौरवहीन न होने पावेगी। अगर हम मानते है कि वर्तमानकी जातियोके द्वारा बहिष्कृत होनेका कुछ मूल्य नहीं है, व्यभिचार पाप है परन्तु व्यभिचारजातता पाप नही है, दस्सा और विनैकया होना पाप नही है, किसी भी देश और किसी भी जातिमे जन्म लेना पाप नही है, धर्म और उच्चता, हाड़ और मासकी वस्तु नहीं है, तब हमे उन सब लोगोको छातीसे लगाना चाहिये; हमारे और उनके बीचमे जो दीवाल खड़ी है उसे गिरा देना चाहिये। सत्यसमाजके उद्देशोमेसे यह एक महान् उद्देश है। यदि हमारे हृदयमे अभी भी शुद्धयशुद्धिका पुराना भ्रम मौजूद है, तो हमारी मनोवृत्ति सत्यसमाजीकी मनोवृत्ति नही है।

इसपर यह प्रश्न हो सकता है कि यदि ऐसा है तो पाक्षिक श्रेणी क्यो बनाई? एक ही नैष्ठिक श्रेणी रखनी थी। परन्तु पाक्षिक श्रेणी बनानेका पहिला कारण तो यह है कि जिस प्रकार हमारे पास सम्प्रदायातीतता तथा जात्यतीतताका आदर्श बतलानेके लिये नैष्ठिक श्रेणी है, उसी प्रकार सब सम्प्रदायोसे तथा समाजोसे प्रेम बतलानेके लिये पाक्षिकश्रेणी है। यदि सभी नैष्ठिक हो जायँगे तो सत्यसमाजी और दूसरे लोगोके बीचमे जो पुल है वह टूट जायगा। जाति और सम्प्रदायोके भीतर रहकर सत्यसमाजके व्यावहारिक रूपको कार्यरूपमे परिणत करनेवाले मिट जायेगे। इसके अतिरिक्त एक कारण यह भी है कि पाक्षिक श्रेणी उन लोगोके लिये है, जिनकी परिस्थिति एकदम

समाज छोड़नेकी नही है परन्तु समय आनेपर वे समाज छोड़ सकेगे। ध्येय यह है कि लोग पहिले पाक्षिक सदस्य बने किन्तु ज्यो ही उनकी झिझक निकल जाय, परिस्थिति अनुकूल हो जाय, मानका मोह निकल जाय त्यों ही नैष्ठिक बन जायँ। जो लोग एकदम नैष्ठिक बन सकते है वे और भी अच्छा करते है। जो लोग पहिलेसे पाक्षिक भी नही बन सकते है, वे अनुमोदक बनकर सत्य-समाजसे सम्बन्ध रख सकते है। इस प्रकार क्रमसे आगे बढ़नेका एक मार्ग तैयार कर दिया गया है। पाक्षिक और नैष्ठिकके अधिकारोमे कोई भेद नही रक्खा गया है। इसका मुख्य कारण यह है कि अनुचित अहंकारको स्थान न मिल जावे। दूसरी बात यह है कि आन्तरिक विश्वास और कार्यक्षेत्रके मुख्य मुख्य भागोमे दोनो करीब एक सरीखे है।

समाजको त्यागे विना सत्यसमाजके सब नियमोका पालन हो सकता है, परन्तु उससे वह सत्यसमाजी कहलायगा। नैष्ठिककी जो विशेषता है, वह उसमे नही आ सकती।

शंका (८)—पिछले कतिपय उदाहरणोसे देखनेमे आता है कि जिस समय समाजमे मूर्तिपूजाका प्रचार हुआ उस वक्त मूर्तिपूजा-योजकोका यही हेतु था कि मूर्तियॉ सिर्फ़ रूपकमय रहे। लेकिन इस रूपकमय स्मारकमे कालके प्रभावसे परिवर्तन होकर अब मूर्तिपूजाने घर कर रक्खा है। अथवा उसका मूलभूत उद्देश एक तरफ़ रह गया है, और दूसरे ही रूपमे उसका पूजन होने लगा है। उसको केवल आलम्बनरूप अब कितने मानते है? इसी प्रकार अहिंसा और

सत्यकी आजकी रूपकमय मूर्तियाँ क्या कल वही रूप धारण न करेगी ? भावी प्रजा भगवान् सत्य और भगवती अहिंसाकी—यदि उनकी रूपकमय मूर्त्तियाँ आज स्थापित कर दी गई—द्रव्य पूजा ही करेगी। जिस उद्देशसे उनका प्रतिष्ठान आज होगा वह उद्देश क्या भावी कालमे भी रह सकेगा ? इसलिये यह ठीक होगा कि ऐसी रूपकमय मूर्त्तियाँ न रक्खी जायँ। मूर्त्तियोके अलावा उन सिद्धान्तोके पोषक विविध तत्त्वोंसे पूरित बोधमय वचन उक्त मन्दिरोमे लगाये जायँ तो क्या मूर्त्तियोका हेतु उनसे सफल न होगा ? खर्चा भी न होगा, तथा आजकी अनेक हिन्दू जैनोकी मूर्त्तियोमे इनकी और वृद्धि न होगी।

समाधान—इस शङ्कामें मूर्तिसे सम्बन्ध रखनेवाले कई प्रश्न है। पहिला प्रश्न तो यही है कि मूर्त्ति रखना कि नही ? दूसरा प्रश्न यह है कि रखना तो सत्य, अहिंसाकी रखना कि नही ? विशेष व्यक्तियोके लिये मूर्त्तिकी अनावश्यकता स्वीकार करते हुए भी मुझे यह कहना पड़ता है कि साधारण जनताके लिये मूर्त्ति आवश्यक है। जहाँ पूजा, भक्ति, स्तुति आदि है, वहाँ मूर्त्ति भी होनी चाहिये। हृदयके लिये एक आलम्बन चाहिये। जो लोग मूर्त्तिपूजक नही है वे भी आलम्बनके लिये मसजिद, प्रार्थनामन्दिर, स्थानक, आदि बनाते है। काबाका अमुक पत्थर, कब्र, ताज़िया आदि मूर्तियाँ है। जो हमारा आदर्श तथा आराध्य है उसका स्मरण करानेवाली कोई वस्तु आदरकी पात्र होती है, यह हृदयकी स्वाभाविक वृत्ति है और यही मूर्तिपूजा है। मूर्त्तिपूजाका दुरुपयोग हुआ है, और उसके विरोधका भी दुरुपयोग हुआ है। अन्धभक्तिमे कोई कम नहीं रहा। बल्कि मूर्त्ति-

पूजाके विरोधने मूर्तियोको तोड़कर लोगोका हृदय तोड़नेकी चेष्टा अधिक की है। खैर, यह विषय स्वतन्त्र है, इसके यहाँ कहनेकी जरूरत नही है। परन्तु मूर्त्तिपूजाके विरोधी और अविरोधी दोनोको यह बात ध्यानमे रखना चाहिये कि मूर्त्तिपूजा मूर्त्तिकी पूजा नही है किन्तु मूर्त्तिके द्वारा पूजा है। मूर्त्ति तो सिर्फ उसका अवलम्बन है।

द्रव्य-पूजा और भाव-पूजाका अन्तर भी ध्यानमे रखना चाहिये। किसीके प्रति आदर बतलाना द्रव्य-पूजा है और उसका अनुकरण करना भाव-पूजा है। यह मुख्य है, फिर भी दोनो आवश्यक है। कोरी द्रव्य-पूजा केवल मूर्तियोकी ही नहीं होती है परन्तु उन व्यक्तियोकी तथा गुणोकी भी होती है। सत्यके गीत गाना किन्तु उसका पालन न करना सत्यकी द्रव्य-पूजा है। मतलब यह कि द्रव्य-पूजा पर्याप्त नहीं है, पर बुरी नही है; साथ ही वह मूर्तिके बिना भी उतनी ही हो सकती है जितनी कि मूर्तिसे।

हाँ, अगर कोई सत्यसमाजी पाक्षिकका हृदय ऐसा हो कि वह मूर्तिका उपयोग न कर सकता हो, तो उसे इसके लिये विवश नही किया जा सकता। वह मूर्तिको लक्ष्यमे लेकर नहीं किन्तु अपने मनोमन्दिरके देवको लक्ष्यमे लेकर प्रार्थना कर सकता है। सत्यसमाज मन्दिरमे वह मूर्तिके सामने नहीं किन्तु बाजूमे खड़ा हो सकता है और मूर्तिको नहीं किन्तु किसी भी आसमानी या मानसिक अवलम्बनको—रूपको—प्रणाम कर सकता है। वह निराकार या साकार रूपमे जैसी कुछ कल्पना कर सके उसे प्रणाम कर सकता है। सत्यसमाज किसीके सिरपर मूर्तिपूजा नहीं लादना चाहता, किन्तु जिनको आवश्यकता है उनको सुविधा देना चाहता है, तथा सर्वधर्म-समभावका मूर्तिमंत रूप दुनियाँको

बताना चाहता है। वह सर्वसाधारणकी चीज बनना चाहता है। बुद्धि और मनका समन्वय करना चाहता है।

यह तो हुई सामान्य मूर्तिपूजाकी बात। अब दूसरा प्रश्न है रूपकमय मूर्तियोंका। इसमे एक बड़ी भारी आपत्ति यह हो सकती है कि रूपकोंको कालान्तरमे व्यक्तित्व मिल जाता है और वह भी झगड़ेकी चीज़ बन जाता है। यह ठीक है, परन्तु सत्यसमाजमे तो राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध आदि वास्तविक व्यक्तियो तकमे विरोध दूर किया गया है तब कल्पित व्यक्तित्वके साथ विरोध तो और भी कठिन है। अगर सत्य अहिंसाकी मूर्तियॉ न रक्खी जॉयगी तो बाकी मूर्त्तियाँ महापुरुषोकी मूर्त्तियाँ न रहकर भगवानोकी मूर्त्तियाँ बन जायँगी। परन्तु उपर्युक्त महापुरुषोमे देवत्वका आरोप नहीं करना है। सत्य और अहिंसाके सेवकोमे वे आदर्श रूप थे, श्रेष्ठ थे, बस इससे ऊँचा स्थान किसी भी वास्तविक व्यक्तिको नही देना है। सत्य और अहिंसाके अनुचर, दूत, आदि रूपमे ही उनकी पूजा करना है— इस भावको हम भूल न जावे, इसके लिए सत्य और अहिंसाकी मूर्त्ति अत्यावश्यक है।

गुणोको जो व्यक्तित्व (Personification) दिया जा रहा है वह इसलिये कि उसके बिना कोई साकार रूप मनमे लाया नहीं जासकता। भारत-माता नामकी कोई देवी न होनेपर भी हमे उसका चित्र आकर्षित करता है और एक कपड़ेको राष्ट्रध्वज कहकर हम मूर्ति-पूजक न हो करके भी सिर झुका देते है। यूनियन जैकके आगे मूर्त्तिपूजाका विरोधी प्रोटेस्टैन्ट अंग्रेज भी सिर झुका देता है। अमेरिका

सरीखे प्रोटेस्टन्ट देशमे भी स्वतन्त्रता देवीकी मूर्ति बनाई जाती है। लक्ष्मी और सरस्वतीकी नारीमूर्त्तियाँ या नारीचित्र बनते ही है। इस प्रकार इनको व्यक्तित्व दिया जाकरके भी वास्तविक व्यक्तित्व प्राप्त नहीं होता। एक तो इनके नाम भी ऐसे प्रसिद्ध गुणवाचक है कि इनको वास्तविक व्यक्तित्व प्राप्त न होगा। उनकी रूपकताका लोगोको खयाल रहेगा। दूसरी बात यह है कि पहिले सरीखा ज़माना आज नही है। पहिले जमानेमे शब्दोको स्थिर रखनेका कोई उपाय नही था। शास्त्र या उपदेश श्रुति-स्मृति (सुनने और याद रखने) के रूपमे रहते थे। इसलिये बहुत ही जल्दी विकृत हो जाते थे। बल्कि दो चार पीढ़ियोमे तो मूल शब्दोका कही पता ही नही लगता था। आज साधन बढ़ गये है। 'अहिंसा और सत्य रूपक है, कोई व्यक्ति नही' इस वक्तव्यको पहिलेके समान विकृत नही किया जा सकता। सत्यसमाजके साहित्यमे इन बातोका इतना अधिक और अनेक जगह स्पष्टीकरण किया जायगा कि चिरकाल तक वह तथ्य ज्योका त्यो लोगोके सामने रहेगा। अगर कदाचित् विकृत हुआ भी तो फिर कोई इस तथ्यका उद्धार करेगा। प्रागैतिहासिक कालमे जिन गुणोको व्यक्तित्व प्राप्त हो गया है, और जिसने उन्हे रूपक बनाया था, उसके स्पष्ट वचन उपलब्ध नहीं हो रहे है फिर भी उनका वास्तविक रूप आज खोजा जा सकता है और खोजा जा रहा है। फिर आजके युगमे शब्दोको स्थिर रखनेके अनेक प्रबल और अव्यर्थ साधनोको रहते हुए पहिले तो तथ्यका लुप्त होना ही कठिन है; अगर हो भी जाय तो उसे ढूँढ़नेमे भविष्यके खोजियोको जरा भी कठिनाई न होगी।

मूर्त्ति कुछ पत्थर और धातुकी ही नही होती, वह कागज़ और रंगकी, कपड़ेकी तथा अक्षरोकी भी होती है। जहाँ किसी आकारमें आकर्षण हुआ कि मूर्त्ति हो गई। इसलिये वाक्योको लिखकर टॉगना भी मूर्त्ति होगी। इस प्रकार हम मूर्त्ति तो रख ही लेगे किन्तु आकर्षण कम कर लेगे। इसके लिये तारनपंथका उदाहरण काफी होगा। तारनपंथी लोग मूर्त्तिविरोधी है, किन्तु अक्षर-पूजक है। इसलिये वे वेदीपर पुस्तक विराजमान करते है, उसकी पालकी निकालते है, पूजा करते है, प्रसाद बॉटते है। वे मूर्त्तिको पत्थर कहकर ठुकरा देते है, परन्तु पोथीको कागज कहकर नही ठुकराते। इसी प्रकार बोधमय वचनोंकी बात है। उनका लगाना अनुचित न होकरके भी वे मूर्त्तियोकी आवश्यकताको दूर नही करते।

मूर्त्ति-वृद्धिकी चिन्ता न करनी चाहिये। चिन्ताका विषय है उनमे द्वेषवृद्धि। आज जगत्मे हजारो तरहकी मूर्त्तियाँ है और उनको लेकर मनुष्यमे जितनी द्वेषवृत्ति है उतनी उस समय भी हो सकती थी जब कि संसारमे हजारोंके बदले सिर्फ दो ही तरहकी मूर्त्तियाँ होती। द्वेष, मूर्त्तियोकी विविधताके बहुत्वपर नहीं, किन्तु अनुदारता तथा मूढ़तापर निर्भर है। फिर ये मूर्त्तियाँ तो अन्य मूर्त्तियोमे समन्वय करनेवाली है, इसलिये औषधकी तरह उपादेय है।

अब रह गया अधिक खर्चका प्रश्न, सो यह समस्या कठिन नही है। मूर्त्ति पत्थरकी न मिले तो मिट्टीकी सही, लकड़ीकी सही, अथवा चित्र ही काफी है। प्रचार हो जानेपर दो दो चार चार आनेमे अच्छेसे अच्छे चित्र मिलने लगेगे। प्रारम्भमे जब तक इतने साधन नही है तब तक कागज पर 'भगवान् सत्य' 'भगवती अहिंसा'

आदि लिखकर टाँगा जा सकता है। यह सब सुविधा आजके लिये ही नहीं है, किन्तु सदाके लिये है। जिसकी जैसी रुचि हो, जैसे साधन हो, वैसा ही कर लेना चाहिये।

शंका—(९)—नैष्ठिकोका एक मन्दिर, विविधपाक्षिकोके विविध मन्दिर ऐसे एक ही स्थानपर कितने मन्दिर हो जायँगे? इनका खर्च कैसे चलेगा? और एक ही सत्यसमाजमें इतने विविध मन्दिर हो, यह बात दिलको ठीक नही लगती।

समाधान—जब हमे विविध सम्प्रदायोका समन्वय ठीक लगता है, तब विविध मन्दिरोका समन्वय भीं ठीक लगेगा। परन्तु विविध मन्दिरोका समन्वय करना है, रचना नहीं। रचना तो सिर्फ़ एक नैष्ठिक मन्दिरकी करना है। परन्तु आज भारतमे जो हजारोकी संख्यामे मन्दिर बने है, उनका समन्वय करनेका ध्येय अवश्य है। उनके वर्तमान रूपको रखना भी नहीं है और उन्हे नष्ट भी नहीं करना है। इसके लिये पाक्षिक मन्दिरकी कल्पना की गई है। जैसे एक हिन्दू मन्दिरमे विष्णु-मूर्ति होनेपर विविध कोनो या स्थानोपर शिव, गणेश, हनुमान आदिकी मूत्तियॉ रहती है, बस इसी नीतिका कुछ व्यापक और व्यवस्थित रूप पाक्षिक मन्दिर है। जहाँ मन्दिरकी आवश्यकता हो, वहॉ प्रत्येक सत्यसमाजीको—चाहे वह पाक्षिक हो या नैष्ठिक—नैष्ठिक मन्दिर ही बनाना चाहिये। परन्तु अगर उसके हाथमें पहिलेसे ही कोई साम्प्रदायिक मन्दिर हो और उसका नैष्ठिक मन्दिरमें परिवर्तन करना कठिन हो तो उसे पाक्षिक मन्दिरका रूप दे देना चाहिये। अथवा अपनी सामाजिक या अन्य किसी परिस्थितिके

अनुसार कभी अपने सम्प्रदायका ही मन्दिर बनवाना अनिवार्य हो तो उसको उसे अपने सम्प्रदायका पाक्षिक मन्दिर बनवाना चाहिये। मतलब यह कि पाक्षिक मन्दिरकी कल्पना तो वर्तमान मन्दिरोके सुधारनेके लिये तथा पक्षपातवाले मन्दिरोके रोकनेके लिये है।

पाक्षिक मन्दिरोके खर्चका सवाल तो आता ही नही है, क्योकि उनका खर्च जैसा पहिले चलता था वैसा चलता रहेगा। बल्कि सत्यसमाजकी छाप लगानेसे द्रव्यपूजाका खर्चीला रूप शून्यप्राय कर देनेकी प्रेरणा मिलेगी। नये पाक्षिक मन्दिर बनवानेकी तो जरूरत ही नहीं है, फिर भी कोई बनवाये तो उसका प्रबन्ध उसपर है, सत्य-समाजपर नही। नैष्ठिक मन्दिरका खर्च कुछ है ही नहीं, क्योकि उसमे फल फूल नैवेद्य चढ़ानेकी आवश्यकता नहीं है। सफाईका काम तो सदस्य अपने हाथसे कर लेगे। हॉ, सत्यसमाजके साहित्यकी छोटीसी एक लाइब्रेरी उसमे अवश्य होगी। इस प्रकार सत्य-समाजका मन्दिर मन्दिर भी है, प्रार्थनालय भी है, स्वाध्यायशाला या वाचनालय भी है, व्याख्यान-भवन भी है, और सदस्योका मिलन-मन्दिर भी है। उसमे विशेष खर्चकी कोई आवश्यकता नहीं है।

शंका (१०)—जन-गणनाका समय जब आवेगा तब उसमे धर्म सत्यसमाज, और जाति सत्यसमाज ऐसा लिखवाना चाहिये न? लेकिन अधिकारी तो यही कहेगे कि हम सत्यसमाज नहीं जानते; हमे हिन्दू-ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र आदि ऐसा कुछ कहो या जैन-वैदिक मुसलमान क्रिश्चियन ऐसा कुछ कहो। तब क्या करना चाहिये?

समाधान—पाक्षिक तो उपर्युक्त ढंगसे भेद लिखवा ही सकता है। सिर्फ धर्मके खानेमे उसे सत्यसमाजी विशेषण और लगवाना

चाहिये। जैसे आज लोग श्वेताम्बर जैन, दिगम्बर जैन आदि कहते है उसी प्रकार सत्यसमाजी जैन, सत्यसमाजी बौद्ध आदि लिखवाना चाहिये। परंतु नैष्ठिकको तो दोनो ही खानोमे सत्यसमाजी ही लिखवाना चाहिये। आवश्यकता होनेपर इस नामकी रजिस्ट्री करा ली जायगी या और कोई उपाय किया जायगा।

शंका (११)–रामराम, जयगोपाल, जयजिनेन्द्र, सलाम आदि जो धर्मसूचक नमस्कारवाचक शब्द है उनकी जगह सत्यसमाजका भी कुछ नमस्कार-वचन है ? या वन्देमातरम् आदि या सबमेसे कोई भी ? क्योकि सत्यसमाजका सदस्य तो निःपक्ष रहेगा, उसके लिये तो सभी तत्त्वतः ग्राह्य है।

समाधान—शिष्टाचारके जो शब्द सिर्फ़ हृदयकी भावनाको बतलाते है जैसे कि—प्रणाम, नमस्कार, सलाम, आशीर्वाद, वन्दना, आदि उनके विषयमे कोई विचार नही। उनका इच्छा और औचित्यके अनुसार जहाँ चाहे प्रयोग किया जा सकता है। बाकी शब्दोके लिये दो बाते है। एक तो जब सत्यसमाजी आपसमे व्यवहार करे तब; दूसरे जब अन्य लोगोसे व्यवहार किया जाय तब।

सत्यसमाजके लिये भी एक ऐसे शब्दकी आवश्यकता तो है। सत्यसमाजपर प्रकाशित होनेवाली सम्मतियोमे बहुतसे सज्जनोने 'जय सत्य देवकी' 'सत्य भगवानकी जय' 'सत्यम् वन्दे' आदि शब्दोका प्रयोग किया है। परन्तु रामराम, जयजिनेन्द्र आदि शब्दोका बहिष्कार नहीं किया जा सकता, क्योकि इससे एक तरहकी कट्टरता साबित होगी। इसलिये एक शब्द बना करके भी अन्योका समन्वय करना जरूरी है।

सत्यका स्थान सर्वोच्च है, इसलिये सत्यकी जयको बतलानेवाला कोई शब्द रखना अच्छा होगा। सत्यं वन्दे, वन्दे सत्यम्, सत्यं जयतु, सत्यं विजयते तराम् आदि शब्दोंका जिनको प्रयोग करना हो वे कर सकते हैं, परन्तु सरल और सुविधाजनक शब्द 'जय सत्य' है। सत्यसमाजी आपसमें जहाँतक बने इसी शब्दका प्रयोग करें। परन्तु जब ऐसे लोगोंके साथ व्यवहार करना हो जो सत्यसमाजी नहीं है, तब उनके साथ वही शब्द बोलना चाहिये जो उनने बोला है—रामरामके उत्तरमें रामराम, जयजिनेन्द्रके उत्तरमें जयजिनेन्द्र। अगर अपनेको ही पहिले बोलना हो तो 'जय सत्य' बोलना ही उचित है। चिट्ठी पत्रीमें भी जहाँतक हो 'जय सत्य' लिखना चाहिये। लिखनेमें इस बातका इतना विचार नहीं किया जा सकता कि उसने क्या लिखा है।

अवसरके अनुसार वन्देमातरम् आदिका भी प्रयोग किया जा सकता है। कट्टरता या द्वेषवृत्ति कहीं भी न आना चाहिये।

शंका (१२)—सत्यसमाज सदस्यके लिये वार्षिक चन्दा कुछ कारणसे ही न रक्खा गया होगा। खर्चा सारा कौन करेगा ? मन्दिर खोलनेमे मकानादि किरायेसे लेना होंगे। ग्रामस्थ सदस्य उस खर्चेकी व्यवस्था करें, ऐसा ही न ?

समाधान—सत्यसमाज एक समाज है। वह कोई सभा या मण्डल नहीं है कि चन्दा न देनेसे उस सदस्यका नाम काट दिया जाय। सत्यसमाजी रहना उसका जन्मसिद्ध अधिकार है। पैसा न दे सकनेसे वह छिन नहीं सकता। इसलिये चन्देकी शर्त नहीं डाली जा सकती। परन्तु चन्देकी शर्त न डालना एक बात है, और चन्दा

न करना दूसरी बात है। शर्त नहीं डाली जा सकती, परन्तु चन्दा किया जा सकता है। सत्यसमाजके प्रत्येक सदस्यको अपनी शक्तिके अनुसार कुछ न कुछ आर्थिक सहायता अवश्य करनी चाहिये। प्रत्येक शाखाको अपनी परिस्थितिके अनुसार अपने यहाँके सदस्योंसे चन्दा लेना चाहिये। उससे मन्दिरका कार्य, मन्दिरके वाचनालयकी व्यवस्था, व्याख्यान आदिका प्रबन्ध, तथा अन्य ढंगोसे सत्यसमाजका प्रचार, वात्सल्य प्रचारके लिये सहभोजकी व्यवस्था आदि करना चाहिये। मन्दिरके लिये अभी मकान किरायेसे लिया जा सकता है। उसमे स्वाध्यायके लिये कुछ साहित्य जरूर रहे तथा 'सत्यसन्देश' पत्र भी अवश्य पहुँचे। कुछ दिन बाद सत्यसमाजका बहुतसा साहित्य हो जायगा। उस सबका संग्रह मन्दिरमे अवश्य रहे।

जैनसम्प्रदायके एक महानुभावने समभावमूलक सत्यसमाज मंदिरकी बातको अव्यवहार्य तथा असंगत बताया था। उनकी शंकाका सार यह है।

शंका (१३)——मंदिरमे किसी एक धर्मके देवको उच्च स्थान देना और बाकीको नीचा, यह ठीक नही है। इससे दूसरोका अपमान होगा। और सबको बराबर स्थान दिया जाय यह भी ठीक नहीं जँचता। अहिंसाके आदर्श श्रीमहावीरके साथ कालिका देवीको विराजित किया जावे–जिसके सामने उसके भक्त पशु-बलि करके धर्म मानते है–अथवा गृहस्थयोग्य राधा-कृष्णको स्थापित किया जावे जहाँ सासारिक शृङ्गारका दृश्य है या शिवलिंगकी स्थापना हो, यह संयोग कुछ जुड़ता नहीं। धर्मगुरु ऐसा न होने देगे।

समाधान——सत्यसमाज मंदिरमे तो सत्य और अहिंसाको ही

सर्वोच्च स्थान दिया जासकता है, किसी व्यक्तिविशेषको नहीं। हॉ, पाक्षिक मदिरोमे अवश्य ही अपने इष्टकी मूर्ति मुख्यस्थानपर होगी। ये पाक्षिक मंदिर सत्यसमाजके आदर्शमंदिर नही है किन्तु उस आदर्शकी तरफ जानेके लिए साम्प्रदायिक मंदिरोंका सम्भव-सुधार है। वहाँ एककी मुख्यतासे भी किसीका अपमान नही है।

यहॉ तो 'जिसका विवाह उसका गीत' वाली कहावत है। अमुक स्थान या समयपर दूल्हाको मुख्य स्थान देनेपर भी दूल्हा अपने सभी कुटुम्बियोसे बड़ा नही हो जाता। एक अखाडेमे हनुमानकी मूर्ति मुख्य स्थानपर हो और हनुमानके भी पूज्यकी मूर्ति गौण स्थानपर, तो इससे उसका अपमान नही है। गणेशके मन्दिरमे उनके माता-पिता शिव और पार्वती एक किनारे रहे तो इसमें कोई आपत्ति नहीं है। हम अपने घरमे अपने बापके चित्रको इतने आदरसे रक्खे जितने कि बडे बड़े नेताओके चित्रको न रक्खे तो इससे हमारा बाप हमारी दृष्टिमे भी उन नेताओसे बड़ा नही हो जाता। इससे सम्बन्धकी निकटता ही माल्रूम होती है, व्यक्तित्वकी महत्ता नही। इससे नेताओका अपमान करनेकी भावना भी द्योतित नही होती। एक जैनमदिरमे राम कृष्णके चित्र दीवालोपर टँगे हो इसी प्रकार राम, कृष्णके मंदिरमे महावीर, बुद्धके चित्र टँगे हो तो इससे हमारा आदरभाव ही द्योतित होगा न कि अनादरभाव। सत्यसमाजी उन सबको समान भावसे ही मानता है, परन्तु सामाजिक परिस्थितिके कारण तथा संस्कारोने जो अमुक महात्मासे घनिष्ठता पैदा कर दी है उससे वह पाक्षिक बना है। भले ही धर्मगुरुओको वह मान्य न हो परन्तु सत्यसमाजीको उन धर्मगुरुओकी मान्यता-

अमान्यताकी पर्वाह नही होती। वह किसी भी शास्त्र, गुरु या विद्वानको वही तक मानेगा जहाँ तक उसके सर्वधर्म-समभाव और सत्य-पूजामे बाधा न आवे। किसी भी सम्प्रदायके शास्त्र और गुरु उसके लिए बन्धनरूप नही है।

कालिकादेवीको विराजित करनेकी बात लिखनेमे भ्रम हुआ है, क्योकि उसमे सत्य और अहिंसाकी ही मूर्तियाँ है—काली शिव आदिकी नही; क्योकि इनकी गणना राम-कृष्ण आदिके समान ऐतिहासिक महात्माओमे नही है। वास्तवमे शिव और शक्तिकी मूर्त्तियाँ तो सत्य और अहिंसाके समान गुणोकी रूपकमय मूर्त्तियाँ ही है, इसलिये शिव और शक्तिका समावेश सत्य और अहिंसामे हो जाता है उनके लिये अलग मूर्त्तियाँ बनानेकी जरूरत नही है।

शक्तिका जो भयङ्कर रूप है वह कई हज़ार वर्ष पहिले लोगोकी जो मनोवृत्ति थी उसकी अपेक्षा ठीक है। साधारण लोग शक्तिकी कल्पना ऐसी ही करते है। जैनियोने भी ऐसी ही कल्पना की है। उनके चेतन-चरित्र नाटकमे जब मोहके कटकसे और ज्ञानके कटकसे तोप-गोले चलते है तब वह दृश्य कालिकाके दृश्यसे कुछ विशेष अन्तर नही रखता। यद्यपि जैनियोने कागजपर तदाकार चित्र नही बनाये, किन्तु अतदाकार शब्द-चित्र तो बनाये है। भावनाओमे तो कुछ अन्तर नहीं है। "तोरी उत्तम क्षमापै मोय आवे अचम्भो कैसे किये कर्म चकचूर।" गानेवाला जैनी जब चकचूरका चित्र अपने मनमे खीचता है तब उसे कालिकाकी लपलपाती जीभ न सही, किन्तु अनाजको पीसकर चकचूर कर डालनेवाला चक्कीका पाट तो याद आता ही है। पिंडस्थध्यानमें ह्रींकारके रेफसे

निकली हुई ज्वालाएँ जब ब्रह्माण्डमे फैलकर सब कर्मोको जला डालती है तब उनका मानसिक चित्र कुछ कम भयङ्कर नही होता। साधारण जनताके आकर्षण और स्थिरताके लिए उसी मानसिक चित्रको मूर्त्तिका रूप दिया जाता है।

जैनी भी तो आखिर शाक्त अर्थात् शक्तिके उपासक है। मोक्षके लिये वज्रर्षभनाराच संहननको अनिवार्य बतलानेवाले, शक्तिके उपासक नही तो क्या है? अनन्त चतुष्टयमे अनन्त वीर्य (शक्ति) की गिनती करनेवाले और वीर्यान्तरायके क्षयक्षयोपशमके के विना ज्ञानावरणका भी क्षय क्षयोपशम न माननेवाले, शक्तिकी उपासना करनेवाले नही तो क्या है? तीर्थङ्करके अङ्गुष्टमे अगणित इन्द्रो बराबर शक्ति माननेवाले अगर शक्तिके पूजक नहीं तो क्या है? सारा संसार शक्तिपूजक है। शक्तिकी हमे ज़रूरत है, इसलिये हमे उसकी पूजा करना चाहिये। हॉ, पुरानी भावना बदलना चाहिये। उसके आगे पशुओके बलिदानकी ज़रूरत नही है, मुंडमाला नही चाहिये, उसका रूप इतना भयङ्कर भी नही बनाना चाहिये। फिर भी उसका रूपक एक वीराङ्गनाके समान तो होगा। शक्तिका स्थान भगवान् सत्य और भगवती अहिंसाके दरबारमे सैन्याध्यक्षाका स्थान है। इसलिये सत्य और अहिंसाकी आज्ञामे रहकर उसको अपना काम करना चाहिये। हम सशक्त बने और अपनी शक्तिका उपयोग अहिंसा और सत्यके लिये करे, यही हमारी शक्तिपूजा है। यह सब विचारधारा सत्यसमाजियोको, खासकर शाक्त सत्यसमाजियोको, समझाई जायगी और मद्यमांसके त्यागकी प्रेरणा की जायगी। तब जो लोग ऐसे शाक्त बनेगे उन्हे सत्यसमाजी शाक्तोमे शामिल किया जायगा।

जो केवल निवृत्त्येकान्तवादी है उनको यह देवपरिषत् आश्चर्य-जनक तथा असंगत भले ही माछूम हो, परन्तु जिनने जीवनके दोनो पहलुओको समझा है और उसपर सर्वतोमुख विचार किया है, उन्हें राम-कृष्ण, महावीर, बुद्ध आदि एक ही वस्तुके अनेक पहलू माछूम होंगे।

इतनी शंकाओके समाधानसे सत्यसमाजके विषयमें पर्याप्त परिचय मिल जाता है। बहुतसे लोग सत्यसमाजके सिद्धान्तके प्रश्नोंमें अनेक दार्शनिक प्रश्न रख देते है। परन्तु मै पहिले कह चुका हूँ कि धर्मके विचारमे दर्शन, न्याय, भूगोल, खगोल, इतिहास आदिके प्रश्न लाना और उनको धर्म-मीमासाकी कसौटी बनाना अनुचित है। मेरे इस बिषयमे विचार है परन्तु सत्यसमाजसे उनका कोई खास सम्बन्ध नही है।

प्रत्येक धर्मकी यदि उदार व्याख्या की जाय तो वह सार्व धर्म बन सकता है और कट्टरताके रूपमे कोई भी धर्म सार्वधर्म नहीं बन सकता। सार्वधर्मके लिए अगर हम कोई नया धर्म बनावें और प्रचलित धर्मोंको नष्ट कर देना चाहे, तो हमे सफलता न मिलेगी। इसके लिए यही उचित है कि सब धर्मोका समन्वय करके हम एक सर्व-धर्म-समभावी समाजकी रचना करें जो सर्वधर्म-समभावको कार्यपरिणत करके दिखावे। यही सर्वधर्म-समभाव सार्वधर्मका रूप हो सकता है।



सत्य-सन्देश

(सर्व-धर्म-समभावी पाक्षिक पत्र)

सम्पादक—साहित्यरत्न, पं० **दरबारीलालजी** न्यायतीर्थ

संस्थापक—सत्यसमाज

यदि आप हिन्दू, जैन, बौद्ध, ईसाई, इस्लाम आदि सभी पवित्र धर्मोका मर्म जानना चाहते हो, राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद आदि महात्माओका जीवन-रहस्य और उनकी लोकोपकारकताका दर्शन करना चाहते हो. सर्व-धर्म-समभाव और समाज-सुधारके प्रत्येक पहलूपर गम्भीर विचार करके उन्हे जीवनमे उतारना चाहते हो, तो सत्य-सन्देशके ग्राहक अवश्य बनिये। यह हर पन्द्रहवे दिन आपको सुन्दर लेख, कविताएँ, टिप्पणियाँ, समाचार और कहानियाँ सुनायगा।

किसी भी सम्प्रदायकी निन्दा न करके सब धर्मोका समन्वय करना और सभी समाजोमे प्रेम और भ्रातृत्व बढ़ाकर समाज-सुधारके प्रत्येक आन्दोलनको चलाना, इसका मुख्य उद्देश है। विवेचनका मौलिक ढङ्ग, गम्भीर विचारणा आदिका रसास्वाद आप इसके पढ़नेसे ही कर सकेंगे। बड़े बड़े विद्वानोने लेखोकी मुक्तकंठसे प्रशंसा की है।

वार्षिक मूल्य सिर्फ ३ रुपया। आज ही ग्राहक बनिये।

फतहचंद सेठी

प्रकाशक—सत्यसन्देश. सरावगी मोहल्ला, **अजमेर. C. I.**